अमृत विद्या

ॐ विष्णुपाद परमहंसकुल चूड़ामणि
श्रील भक्तिरक्षक श्रीधर देवगोस्वामी महाराज

।। श्रीश्रीगुरुगौरांगौ जयतः ।।

अमृत विद्या

प्रवक्ता—

ॐ विष्णुपाद परमहंसकुल चूड़ामणि

श्रील भक्तिरक्षक श्रीधर देवगोस्वामी महाराज

सम्पादक—

परिव्राजकाचार्य श्रीमद्‌भक्तिसुन्दर गोविन्द देवगोस्वामी

के कृपा निर्देश से

त्रिदण्डी स्वामी भक्ति प्रपन्न तीर्थ महाराज

द्वारा श्रीचैतन्य सारस्वत मठ, नवद्वीप से प्रकाशित

प्रथम संस्करण   २००० प्रतियाँ

ॐ विष्णुपाद परमहंसकुल चूड़ामणि
श्रील भक्तिरक्षक श्रीधर देवगोस्वामी महाराज
जन्मशताब्दी वर्ष । २८ अक्टूबर, ६४.

द्वितीय संस्करण १ फेब्रुयारी '९८, ५००० प्रतियाँ

प्राप्ति स्थान-

- श्रीचैतन्य सारस्वत मठ
  कोलेर गंज, नवद्वीप
  जि. नदिया, पश्चिम बंग-७४१३०२
  फोन-४००८६
- श्रीचैतन्य सारस्वत कृष्णानुशीलन संघ (रजि.)
  ४८७, दमदम पार्क
  कलकत्ता-७०००५५ । फोनः ५५१६१७५
- श्रीचैतन्य सारस्वत मठ
  विधवा आश्रम रोड, गौरवाटसाही
  पुरी ७५२००१, उड़ीसा.
  फोन-(०६७५२) २३४१३
- श्रील श्रीधर स्वामी सेवाश्रम
  दसबिसा, गोवर्धन (मथुरा)
  फोन-(०५६५) ८५२१६५
- **श्री चैतन्य सारस्वत मठ,** वृन्दावन
  ९६, सेवा कुञ्ज, मथुरा, इउ पि, फोन : (०५६५) ४४४०२४

© सर्वाधिकार सुरक्षित

श्रीचैतन्यसारस्वत मठ के सभापति-आचार्य व सेवाइत

परिव्राजकाचार्यवर्य

श्रीमद्‌भक्तिसुन्दर गोविन्द देवगोस्वामी

ॐ विष्णुपाद परमहंसकुल चूड़ामणि

श्रील भक्तिरक्षक श्रीधर देवगोस्वामी महाराज

अन्य प्रकाशित साहित्य

1. साधन पथ
2. शिक्षाष्टक
3. रसराज श्रीकृष्ण
4. अमृत विद्या
5. श्रीप्रेमधाम देव स्तोत्रम्
6. The Search for Sri Krishna : Reality The Beautiful
7. Sri Guru & His Grace
8. The Golden Volcano of Divine Love
9. Sri Srimad Bhagavad Gita
10. Sri Prapanna Jivanamritam
11. Loving Search for the Lost Servant
12. Subjective Evolution
13. Sermons of the Guardian of devotion
14. The Maha-mantra

विषय-सूची

	पृष्ठ
१. आत्मतत्व और भगवत् तत्त्व	१
२. जीव की परम-प्राप्ति	५
३. समस्या और समाधान	६
४. परमार्थ-प्राप्ति का पन्थ	१७
५. बन्धन से मुक्ति का उपाय	२१
६. वैष्णव-जीवन में आनुगत्य	२६
७. धर्म-शिक्षा और विश्वास	३२
८. शरणागति	३४
६. जीव की स्वाधीन इच्छा की निश्चयात्मक सार्थकता	३६

आत्म-तत्त्व एवं भगवत् तत्त्व

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेर्यः परतस्तु सः ।। गीता ३-४२

पंडित जन कहते हैं कि जीव देह के अन्यान्य अंशों की अपेक्षा इन्द्रियां श्रेष्ठ हैं। समस्त इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन की अपेक्षा निश्चयात्मिका वृत्तिरूप बुद्धि श्रेष्ठ है । फिर जो बुद्धि के अपेक्षा भी श्रेष्ठ है वही जीवात्मा है । इस जगत् में हम सब की इन्द्रियाँ अर्थात् नेत्र, कान, नाक सब अतिशय प्रयोजनीय हैं । इनको यदि हटा दिया जाय तो हमारे लिए फिर कुछ नहीं रह जाता । क्योंकि नेत्रों से देखा जाता है, कानों द्वारा सुना जाता है, इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियों की विशेष-२ प्रयोजनीयता है । इनके नहीं रहने से हमारे लिये कुछ भी आस्वादनीय नहीं रहता । इसके पश्चात् *'इन्द्रियेभ्यः परं मनः'*- इन्द्रियों से श्रेष्ठ होता है मन । क्यों ? यदि हमारा मन दूसरी ओर रहे तो न हम सुन सकते हैं न देख सकते हैं । इसलिए गीता में श्री कृष्ण भगवान् कहते हैं कि इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है । मन का धर्म क्या है ?- संकल्प, विकल्प करना अर्थात् यह चाहिये, यह नहीं चाहिये, इस प्रकार यह हुआ मन का धर्म । तत्पश्चात् *'मनसस्तु परा बुद्धि'* मन के ऊपर है बुद्धि **Judging faculty reason,** बुद्धि बतला देती है कि इसे लो, इसे मत लो, यह अच्छा है, यह अच्छा नहीं है । अर्थात् निश्चयात्मिका विचार देना बुद्धि का कार्य है। अतएव **Intelligence** या **'Judging Faculty'** जो हम सब के अन्दर है, वह और भी **Important-** प्रयोजनीय है इन्द्रिय व मन से । और *"बुद्धेर्यः परतस्तु सः"* - अभी बुद्धि से और ऊपर में जाने से देखा जायेगा **'our real self'** अर्थात् हम सब की मूल सत्ता उस जगह है । वह क्या? वह एक प्रकाश कण की तरह है । प्रकाश पड़ने पर बुद्धि बतला देती है कि यह काला है, यह सफेद है, यह अच्छा है, यह अच्छा नहीं है । तात्पर्य यह है कि इन्द्रियां दिखा देती हैं, मन चाहता है, बुद्धि विचार करती है । किन्तु प्रकाश तो चाहिये **Light** ज्ञान । उस ज्ञान का कण है आत्मा । इसके भी ऊपर है परमात्मा, जो और भी सुसूक्ष्म है । आत्मा तो **Partial** है किन्तु परमात्मा और भी व्यापक है वह इसको **Control** नियंत्रण कर सकता है । उस तरफ दृष्टि डालने से और उच्चतर वस्तु का सन्धान मिलता है । विरजा, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ एवं गोलोक इस भाव से विद्यमान हैं ।

गोलोक में भगवान् श्रीकृष्ण सर्वोपरि विराजमान हैं । वहां जाना हो तो स्वामी होकर नहीं जाया जा सकता । प्रभू होकर कोई नहीं जा सकता, दास होकर वहाँ जाया जा सकता है क्योंकि वहां का Soil देश, जिस उपादान से तुम तैयार हो उससे भी अधिक दाम के उपादान का Soil राज्य वह है । वैकुण्ठ के पृथ्वी आदि उपकरण सभी ही चिन्मय हैं (चै:च:)। वैकुण्ठ जिसे कहा गया है, वह जीवात्मा का उच्चतम देश है । सूक्ष्मतर देश है । वह देश चिन्मय देश है । वहां मायिक पंचभूतों का जन्म नहीं होता है । वहां की जलवायु आदि सभी चेतन हैं । स्थूल उपादान से निर्मित नहीं है । मायिक मिसाले से नहीं बना है । जीव जितना conscious है, उससे भी उत्कृष्ट consciousness वहां है । वहां के वासी यहाँ आ सकते हैं, किन्तु जीव 'objective position' में है । जीव पराधीन है । इसी से वहां दास होकर जा सकता है । इसी लिए महाप्रभु ने कहा है कि 'जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास' जीव का स्वरूप है कृष्ण का नित्यदास । इस तथ्य को अस्वीकार करने से काम नहीं चलेगा । तुम चेतन का कण मात्र हो । जगत में तुम्हारी position कितनी हो सकती है । केन्द्र का तुलना में तुम Absolute की दृष्टि में तुच्छ हो, इसलिए उस सत्य सम्बन्ध को स्वीकार कर लेना ठीक है कि तुम बड़े में छोटा । इस सत्य को स्वीकार कर लेने से तुम एक स्थान पाते हो । नहीं तो माया यहां माया है ही, जो महा मिथ्या है । रवीठाकुर के एक नाटक के शेष में कहा गया है कि तुम महामाया हो, महामिथ्या हो । माया मिथ्या Conception (धारणा) है । यहां के जो भोग हैं सब ही मिथ्या हैं 'मा' माने 'ना' 'या' अर्थात् जो, अर्थात् जो नहीं है, वह माया है । वह तो 'Separate Provincial interest' (पृथक् क्षुद्रराज्य का स्वार्थ है) एक 'Universal Wave' उपन्तर का प्रवाह चल रहा है । इसमें हम लोग अपना 'Separate interest' या 'wave' (पृथक स्वार्थ की तरंग) पकड़ कर इसको व्याहत करना चाहते हैं । प्रत्येक को अपना अपना स्वार्थ परिचय देखना चाहते हैं । जैसे एक नीम वृक्ष है, हम लोग कहेंगे इससे औषधि होती है और कीड़े कहेंगे, इसमें हमारा वंशानुक्रम से Record (संग्रहीत तथ्य) जमा हो रहा है, वह तो कड़वा तथा निरर्थक है, इसको हम सब नहीं खा सकते । इस भाव से प्रत्येक जीव अपने ही सम्बन्ध के अनुसार विचार करते हैं । हम लोग एक घर बनाते हैं, उसमें कबूतर बोलते हैं कि यह हमारे लिये घर है, यह कहकर कई कबूतर परस्पर झगड़ा करते हैं ।

इस प्रकार के भाव से एक 'Universal' (परिपूर्ण) लक्ष्य लेकर एक wave (तरंग) चल रही है या लीला चल रही है और हम सब अपने-२ स्वार्थ को उसके ऊपर ओढ़ाना चाहते हैं । इससे 'Center' (केन्द्र) के साथ में province (राज्य का) 'clash'

(संघात) हो रहा है । इस समय `center' `Absolute center' (केन्द्र-पूर्ण केन्द्रिय सत्य) के साथ में इसी province (राज्य में) ये सब जो कल्पित कर लिये गये हैं, हमारे लिए वे ठीक नहीं है । सब उसी का - ईशावास्यमिदं सर्वं । हेगेल साहब जैसे कहते हैं .... For itself (वह अपने लिए है) Reality is by itself and for itself परिपूर्ण वास्तव-सत्य स्वयं परिपूर्ण है एवं अपने लिये है । यह कहना ही होगा, मूल तत्व आप ही अपने का सृष्टा है । उसको यदि दूसरा कोई सृष्टि करे तब तो वह बड़ा होगा । अतएव वृहत्तम शक्ति वे स्वयं ही हैं अर्थात् स्वयम्भू हैं । वह नित्य है और भी कहना होगा `Reality is for itself' पूर्ण सत्य अपने लिये ही है । यदि और किसी के संतोष के लिए उसकी सत्ता होती है तब तो जिसके संतोष के लिए उसकी सत्ता है वह वस्तु बड़ी हो जायेगी । तब तो Reality नष्ट होने से समाप्त हो जायेगी, वास्तव वस्तु उसी के ही लिए सब । एक तृण हिलता है, भगवान के संतोष के लिए । प्रत्येक `Part' (अंश) उसकी सेवा के लिए है यही वास्तव समाधान है । वास्तव और प्रत्येक `Part' (अंश) स्वयं प्रभू बन कर आस-पास में सब `Exploit' (शोषण, भोग) करते रहना, वह माया है मिथ्या है । किन्तु वास्तव तत्व उसको `Allow' ग्राह्य नहीं करेगा, वह उसके फल के संघात से मारा जायेगा। उस `plan' (स्तर) में जो `Wave' (तरंग) है उसको 'भक्ति' कहते हैं, *'स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे'* जबकि वह `Unseen' (अदृश्य) है तब भी वह जो `Vibration' (तरंग प्रवाह) है वह ऐसी अहैतुकी है कि उसे कोई पैदा नहीं करता, कोई कारण नहीं उसका, और अप्रतिहत है, उसको कोई बाधा नहीं दे सकता । `Eternal' (नित्य) जो `Wave' (तरंग) चल रहा है उसके साथ तुम्हारे अपने क्षुद्र स्वार्थ पूरा करने पर सब टूट कर चूर चूर हो जायेगा । कहाँ चला जायेगा प्रवाह में ? अतएव वह जो `Universal wave' (अनन्त की तरंग) चल रही है, उसके साथ तुम एकीभूत होने की कोशिश करो । उसी ताल से नाचना सीखो, तब तुम्हें और कोई असुविधा नहीं होगी । कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात् एक समय उतंक नामक एक ऋषि के साथ श्रीकृष्ण की मुलाकात हुई । ऋषि बोले कृष्ण मैं तुझे अभिशाप दूंगा, क्योंकि तुम ही इस कुरुक्षेत्र के युद्ध के कारण हो । सब विधवाओं का हा हा कार और पितृहीन बालकों का क्रन्दन यह सब ही तुम्हारे दोष से हो रहा है । तुमने यह सब किया है । इसलिए मैं तुम्हें अभी समाप्त करुंगा । तब श्रीकृष्ण ने कहा - "ब्राह्मण! तुमने अनेक तपस्या करके जो फल, पुण्य-संचय किंया है, वह सब नष्ट हो जायेगा, मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, क्योंकि मैं निर्गुण में भवस्थित हूँ । निर्गुण अर्थात् जिस `Wave' (तरग) का कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, उसी `Wave' (तरंग) के साथ में मेरा मेल है। निर्गुण माने 'Negative' (नेतिवाचक) नहीं, निर्गुण माने

निर्व्याधि । और गुण माने सत्, रज, तम माया के तीन गुण माया है । व्याधिजातीय वस्तु, और निर्गुण `Positive' (इतिवाचक)का अर्थ है निरोग, और सगुण का अर्थ है व्याधियुक्त, मायायुक्त । किन्तु मैं निर्गुण, अर्थात् किसी प्रकार `Provincial' (क्षुद्रगन्डी के) अथवा `Separate interest' (पृथक स्वार्थ) के `Under' (आधीन) में नहीं हूँ, हमारा जो नाच चल रहा है, मैं जो कर रहा हूँ वह होता है निर्गुण ।

यदि कोई स्वार्थ वश कार्य करे, उसी `Universal Wave' (अनन्त की तरंग) के साथ में ताल मिलाकर चलना सीखे, तब दो-चार हजार ब्रह्माण्ड ध्वंस करने पर भी उसे कुछ नहीं होता । पुलिस यदि सरकार के लिए खून करती है तो उसके लिए वह पुरस्कृत होती है । और यदि स्वयं रिश्वत खाने के लिए दो पैसे ले लेती है तो वह दण्डनीय होती है । उसी प्रकार `Universal interest' (वृहत्तर स्वार्थ) जो चल रहा है मंगलमय `Absolute good' (परम सत्य ) है उसका जो `Wave' तरंग चल रहा है, उसी के साथ ताल मिलाकर चलना ही निर्गुण भूमिका है और उसके साथ ताल न मिलाकर यदि कोई विपरीत चलता है तो `Wave' (तरंग) से वह चूर-चूर होकर कहाँ चला जायेगा, उसका कोई पता नहीं । अतएव तुम उसी निर्गुण में जाकर उसके साथ में ताल देना सीखो । जो `Highest Center' (सर्वोच्च केन्द्र) जिसकी इच्छा से, जिसके लिए यह सब, उसके ही सुख के लिए उसी केन्द्रिय सुख के लिए कोशिश करो, तभी जाकर तुम सब से अधिक लाभवान होवोगे । तुम्हारा 'Individual Position' (व्यक्तिगत मानवाधिकार) सबसे अधिक लाभवान हो सकता है, यदि तुम उसी ताल से नाचना सीखो, चलना सीखो, तभी तुम सुख पावोगे व सब को ही सुख दे सकोगे । वही `Center '(केन्द्र) ने इस प्रकार दृष्टान्त दिए हैं । हम लोगों के शास्त्र हैं वेदादि, उनका कहना है -

यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातंभवति
यस्मिन प्राप्ते सर्वमिदं प्राप्तम् भवति
तद् विजिज्ञासस्व तदेव ब्रह्म ।

जिसको जानने से सब कुछ जाना हो जाता है जिसको पाने से सब कुछ पाया हो जाता है, उसका अनुसंधान करो, वे ही ब्रह्म हैं । वेदान्त में *'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'* । प्रथम ही हम ब्रह्म जिज्ञासा क्यों करें । 'जन्माद्यस्य यत: .... । जन्म, स्थिति व लय जहाँ से जिसके द्वारा नियन्त्रित होता है उसी `Cause' (कारण) को हमें जानना होगा । हम कहाँ हैं, हम कौन हैं, हमारा क्या `Position' (अधिकार) है । इन सबों की जानने की कोशिश हमें करनी होगी । एक `Town' (शहर) में जाकर `Civil Law' (सभ्यनियम) को जानने की कोशिश करनी होती है - कहाँ रास्ता है, कहाँ

पर गाड़ी आदि नहीं जाती, यह न जानने से मुश्किल में पड़ जाना होता है । उसी प्रकार इस जगत् में जिस जगह हम वास कर रहे हैं यहाँ के 'Rules Regulation' (नियम-कानून) आदि कुछ हम समझें । कौन हो तुम, कहाँ से आये हो, कौन ने तुम्हें यहां रखा है और शेष समय में तुम्हें कहाँ प्रवेश करना है । इन सबको तुमको जानना उचित है । अपने 'Interest' (स्वार्थ) के लिए ही ब्रह्म जिज्ञासा है ।

इसमें जिसको विश्वास है उसी को कहते हैं श्रद्धा 'Faith' (विश्वास) । चैतन्य चरितामृत में कहा गया है -

श्रद्धा शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय ।
कृष्णे भक्ति कैले सर्व-कर्म कृत हय ।।

अर्थात् एक वस्तु ऐसी है कि जिसके प्रति कर्त्तव्य करने से सब कुछ किया हो जाता है ।

श्री गीता में जैसे कहा गया है -

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच : ।।
।। गी: १८-६६ ।।

भगवान् कहते हैं मेरी 'Position' को जानो अर्थात् अधिकार को जानो, केवल अधर्म ही नहीं, धर्म कह कर जो कुछ जानते हो सब छोड़ दो, शुभ अशुभ सब प्रकार की 'duty' (कर्त्तव्य) छोड़ दो, केवल मेरी शरण में आवो, कुछ भी नहीं सोचना होगा, मैं सब सम्भाल लूंगा । कोई कह सकता है कि यह कैसे होता है ? दृष्टान्त देते हैं-

"यथा तरोर्मूल निषेचनेन तृप्यन्ति तत् स्कंध भुजोपशाखा: ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ।।"
।।भा: ४. ३१. १४ ।।

अर्थात् वृक्ष के मूल में जल देने से उसके डाल-पत्ता सबही की तृप्ति हो जाती है, पेट में भोजन देने से जिस प्रकार समस्त शरीर इन्द्रियों का कार्य होता है, उसी प्रकार स्वयं भगवान् की सेवा करने से सब कर्त्तव्य ही सम्पादन होता है । श्रीभगवान् की 'Positon' (अधिकार) इस प्रकार का है ।

जीव की परम-प्राप्ति

एक शिष्य ने कहा - दण्डवत् प्रणाम, महाराज ! अनेक दिन से आपके दर्शन प्राप्त न कर सका । चारों ओर से मुसीबत और अनेक समस्याओं ने घेर रखा है । अत:

समय न मिलने से आपके दर्शनों को नहीं आ सका।

श्री गुरु महाराज - वत्स ! इस जगत् के प्रति जो आकर्षण है वह दुर्निवार है । संसार में विपदा का मूल कारण है राग-द्वेष, अंहकार । पूर्व संस्कारों में बन्धे हुए हम लोगों की आसक्ति ही हमें हाथ पकड़ कर ले जा रही है । उसके हाथ से निकलने की आवश्यकता है । अपनी रक्षा स्वयं करने की जरूरत है । शान्ति और आनन्द को प्राप्त करने के लिये, सुख को प्राप्त करने के लिये हम दौड़-भाग कर रहे हैं । इधर-उधर के संगी-साथियों को दोष देते रहते हैं । किन्तु मूल बात पर ध्यान देने का हमें समय ही नहीं है। दूसरों को सुधारना चाहते हैं, परन्तु वह असम्भव है । शांति के लिये चारों ओर से अपने आपको संयमित करना होगा । संगी-साथी-पड़ौसियों के साथ भी मेलजोल रखना होगा । अच्छा-बुरा, लाभ-हानि, सर्दी-गरमी, सुख-दुख ये सब आगमापायी हैं । तुम्हें अपनी ओर देखना चाहिये । अपने प्रति सुविचार करो। *"आत्मैव आत्मनो बन्धु आत्मैव रिपुरात्मन: ।"* श्री गीता।। तुम्हारा एकमात्र कर्त्तव्य है -

समस्त धर्मों को छोड़कर श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करो । श्री भगवान् ने कहा है अपने कन्धों पर दायित्व मत रखो, मेरे ऊपर उसे छोड़ दो । यही श्री गीता का अवदान है । एक जर्मनी का विद्वान कहा करता था कि पृथ्वी पर श्रीमद्भगवद्गीता सर्वश्रेष्ठ धर्मग्रन्थ है । श्री गीता कहती है (**environment**) इस जगत् पर तुम्हारा कुछ जोर नहीं है । तुम अपने को संयमित करो और जगत् के साथ अनासक्त होकर विचरण करो, तभी तुम शांति प्राप्त करोगे । श्री मद्भागवत फिर और भी ऊँचा विचार प्रस्तुत करती है —

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे सदायभाक् ।।
।। श्रीभा० १०.१४.८ ।।

अर्थात् सर्वत्र ही श्री भगवान् का हाथ है । वे निष्ठुर भी नहीं हैं, अविचारक भी नहीं हैं । जो कुछ घटित हो रहा है वह तुम्हारे कल्याण के लिये हो रहा है । वे मंगलमय हैं एवं स्नेहमय हैं । सम्पद-विपद संग-साथ सब के मूल में उनकी इच्छा ही काम कर रही है तथा सब ही हमारे मंगल के लिये है । उनकी अनुमति के बिना कुछ भी घटित नहीं हो सकता । वह सजग दृष्टि से सब कुछ देख रहे हैं । इसलिए बन्धुता भाव पूर्वक सबसे व्यवहार करना होगा *भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्* - दोष की जिम्मेवारी अपने ऊपर लो । उनके राज्य में - कार्यक्षेत्र में सब ही सुन्दर है । सुन्दर का प्रभाव तुम्हें भी सुन्दर कर देगा । इसी विचार में अपने को प्रतिष्ठित करने

पर ही अनुभव करोगे कि सब झमेलों से छुटकारा पाकर तुम स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गये हो । सुन्दरके देश में प्रवेश कर रहे हो । सत्यं शिवम् सुन्दरम् । निखिल कल्याणगुणों की वे निधि हैं । केवल कर्म एवं ज्ञान मुक्ति नहीं । अपने वास्तव मुक्त स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाओगे । 'मुक्ति हित्वान्यस्वरूपं स्वरूपेन व्यवस्थिति:' । अर्थात् सेवा-भूमिका में प्रतिष्ठित हो जावोगे । श्री भागवत का यह श्लोक हमें बड़ी आशा एवं भरोसा देकर आश्वस्त करता है । **Proper adjustment** वास्तव अवस्थिति की जरूरत है ।

पूर्व-पूर्व कर्मों के फलवश जहां जहां भ्रमण कर आये हो, वहां एक कर्त्तृत्व बाकी रह गया है । उस की समाप्ति नहीं और उसे इस प्रकार शेष नहीं किया जा सकता। तुम कितनी कामनाओं को पूरा करोगे । उसके लिये भगवान् ने श्री गीता में मानो सोने की थाली में अमृत परोस दिया है-

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेम्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ।।
।। श्रीगीता १८/६६ ।।

एकमात्र जीवन के इस उद्देश्य को लेकर आगे चलो । श्री भगवान् कहते हैं-मैं हूं । तुम्हें कुछ असुविधा नहीं होगी । सारा दायित्व मेरा है । मैं जिस समय मठ में आया था श्री गुरुदेव के पास, उस समय की एक घटना सुनाता हूँ । श्री महाप्रभु के जन्मोत्सव की परिक्रमा समाप्त हुई और उत्सव के शेष होने पर सब अपने अपने घरों को चले गये । श्री प्रभुपाद एक बेंत की कुर्सी पर वरामदे में बैठे थे । मैं उनके मुख से कुछ सुनने के लिये उनके पीछे बैठा था । सब भक्त अपने घरों के जाने से पहले श्री प्रभुपाद को प्रणाम करने आये । प्रभुपाद ने उन से कहा-"देखिये, आप मुझे वञ्चित मत करना ।" मैंने चौंक कर विचार किया कि वञ्चित करने की क्या बात है ? उत्सव समाप्त हो गया है, हर एक भक्त अपने घर में जा रहा है, इस में वञ्चना क्या रही ? प्रभुपाद बोले-आपने मुझे आश्वासन दिया है कि आप कृष्णभजन करेंगे। मैं भी उसके लिये आपके साथ एक सम्बन्ध में बँध गया हूँ । यहां दो चार दिन के लिये आप आये और लौटे जा रहे हैं, फिर उसी संसार में ही । इस से मैं तो वञ्चित हो गया । यदि आप कहें कि न प्रभो ! वञ्चना नहीं करते हैं । दो चार दिन के लिये जाकर कुछ काम काज को सम्भाल कर हम फिर आपके पास आयेंगे । आने पर फिर जो कहेंगे हम वही करेंगे । तो मेरा कहना है कि उसका प्रयोजन नहीं है । यदि कोई कहे कि घर में आग लग रही है, आग को बुझा कर मैं लौट कर आ रहा हूँ, तो मैं

कहूँगा-इस से कोई प्रयोजन नहीं है । आपकी और मेरी सबकी एक मात्र स्वार्थ गति है श्री कृष्ण, उनकी सेवा को छोड़कर जीव का और कोई कर्त्तव्य नहीं है । यदि सारी दुनियां जल कर भस्म हो जावे तो भी आपकी कोई हानि नहीं है । आप चिन्मय जीवात्मा हैं । आप मरते नहीं । जलते नहीं । आप नित्य सनातन तत्व हैं । एक मात्र कृष्ण सेवा के अतिरिक्त आपका और कोई कर्त्तव्य नहीं है । आप के जितने भी प्रयोजन हैं वे सब हैं श्री कृष्ण के चरण कमलों में । यह सुनकर मैंने उसी समय श्री प्रभुपाद के चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया । मैं समझ गया कि ये तो हमारा सुख चाहते हैं, शान्ति, रस चाहते हैं अथवा ये वह चाहते हैं जो इनकी भीतरी आत्मा चाहती है । क्योंकि वह आत्मा निखिल रसामृत मूर्ति है । रस ही एक मात्र प्राप्य वस्तु है। जैसे रुपया-पैसा, पौण्ड-डालर आदि की मूल वस्तु है सुवर्ण । उसी प्रकार आस्तिक से लेकर नास्तिक पर्यन्त सब की ही प्राप्य वस्तु है रस । यह वस्तु जगत् में कहां प्राप्त हो सकती है ? परतत्व वस्तु को छोड़कर और कहीं भी प्राप्त करने की सम्भावना नहीं है । क्योंकि वेदान्त कहता है-*रसो वै स:* । वह ही समस्त रसों की मूर्त्तनिग्रह है । वह चैतन्यरस विग्रह है, सत्यम् शिवम् सुन्दरम् है । वास्तव सर्वसौन्दर्यमय है । कर्म, ज्ञान एवं योग मार्ग-किसी शरणागति के अतिरिक्त वह और किसी उपाय से प्राप्त नहीं होता ।

कर्मबन्ध ज्ञानबन्ध आवेशे मानव अन्ध ।
ताते कृष्ण करुणा सागर ।।
पाद पद्म मधु दिया अन्धभाव घुचाइया ।
,चरणे करेन अनुचर ।।

श्री महाप्रभु ने जब श्री राम राय के मुख से सुना कि *"ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति"*-इत्यादि तब उन्होंने कहा-राय ! ठीक है यह, किन्तु इससे आगे कहो । ज्ञानशून्या भक्ति के क्षेत्र में जाना होगा । ज्ञान की परम भूमिका है न्याय **(justice)**, किन्तु न्याय के भी ऊपर है करुणा । ज्ञान उसे नहीं दे सकता । स्नेहमय भूमिका सेवामय भूमिका में अवस्थित होने पर उसकी प्राप्ति सम्भव है । श्रीमन्महाप्रभु सबको उसी प्रेम-भूमिका की ओर आकर्षित करने के लिये आविर्भूत हुए हैं । अत: जीवन की एकमात्र साध्य वस्तु है ब्रह्म-परमात्म प्राप्ति के बहुत ऊपर जो भगवत् धाम है, उस धाम में ज्ञानशून्य भक्ति के विभिन्न उत्तमोत्तम प्रकोष्ठों में भगवान् का जो सेवा विलास चलता है, किसी भी प्रकार उस स्थान का किञ्चित आश्रय लेना चाहिये । वही जीव की परम प्राप्ति या प्राप्य वस्तु है । वही एकमात्र सम्पदा है ।

समस्या और समाधान

स्वाधीन भारत के प्रथम प्रधानमंत्री श्री जवाहर लाल नेहरु ने बहिर्मुख क्रिया की परिस्थितियों की प्रधान समस्याओं के समाधान रूप में **Peaceful co-existence** अर्थात् आपस में शांतिपूर्वक मिलकर रहना । यह बात कही थी । युद्ध एवं हिंसा प्रधान जातियों की उन्मत्तता के कारण विश्वशांति सम्पूर्ण रूप से नष्ट होती है, इस सम्भावना से इस बात को सब स्वीकारते हैं । शांति की नीति में विश्वास रखने से करोड़ों रुपयों का खर्च करके सेना को इकट्ठा करना, सैन्य-विभाग या देश रक्षा विभाग के लिये लाखों करोड़ों रुपयों को खर्च करने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता । बल्कि वही समस्त धन अपने देश की उन्नति के कार्यों में लगाने से देश समृद्धिशाली होगा एवं देश के जनसाधारण भी शांति से जीवन यापन कर सकते हैं । यदि यह नीति सब अपना लें तो जन साधारण की सुविधा-रक्षा के लिये पुलिस के खर्चे में भी अवश्य बचत होगी । मानवी-बुद्धि में यह बात असम्भव प्रतीत होने पर भी यह शांति की तथा भारतीय राजनीति का एक सूत्र है ।

अब देखना यह है कि इस नीति का मूल कहां है ? निरपेक्ष सूक्ष्मदर्शी नेत्रों से सहज में ग्रहण किया जा सकता है कि इस का मूल है आन्तरिक-जगत् का सम्बन्ध या ईश्वर- विश्वास । जब तक जीव अन्तर्मुख नहीं होता अथवा धर्मज्ञान के द्वारा आचरण नहीं करता तब तक सुखपूर्वक आपस में मेल-जोल की नीति का वह अनुसरण नहीं कर सकता । अर्थात् अनित्य जगत् में तब तक शांति की सम्भावना नहीं हो सकती जब तक नित्य जगत् के साथ जीव का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। आस्तिक या नित्य जगत् के साथ सम्बन्ध जुड़ने पर अनित्य जगत् के नीच-ऊँच, लाभ-हानि, सुख-दुख, जय-पराजय-ये सब तुच्छ लगने लगती है ।

पारमार्थिक इतिहास देखने पर पता लगता है कि तत्त्वदर्शी महात्मागण इस नश्वर जगत् में स्थिर रहने की व्यवस्था पर ध्यान न देते हुए किस प्रकार अन्तर जगत् के नित्य - जगत् की सदस्यता-या नागरिकता प्राप्त हो सकती है, इस ओर ही वे अपनी समस्त चेष्टाओं को नियोग करते थे एवं सफलता भी लाभ करते थे । इस जगत् में जितने पदार्थ जीवन यात्रा के लिये सहज में प्राप्त होते, उतने ही पदार्थ को स्वीकार करते थे । जिस स्थान से आज हो या दो दिन पीछे विदा होना ही है इस धर्मशाला रूप जगत् में पक्के - पुख्ता बन्दोबस्त करने से कोई भी स्थायी लाभ की सम्भावना नहीं है । परन्तु केवल दुखों की वृद्धि करना है । इस प्रकार के महात्मा लोगों के चरित्र इतिहास में प्रसिद्ध हैं जिन्होंने अनेक युगों की परमायु प्राप्त करके भी इस

असीमकाल को भी क्षणकाल मात्र जानकर वृक्षों के नीचे रह कर नित्य जगत् में भ्रमण करने के लिये सोपान की रचना की । और कई महात्माओं ने वस्त्रादि की जगत् मर्यादा का भी संग्रह करना समय को व्यर्थ करना समझा और दिगम्बर ही रहे आये । यह भारत उस महान संस्कृति का देश हैं । अतएव हमें देखना होगा कि हमारी समस्या क्या है और क्या है उसका समाधान ? सुखपूर्वक मेल-जोल की नीति से इस जगत्-समस्या की उग्रता कुछ समय के लिये प्रशमित हो सकती है, किन्तु चिरकाल तक स्थायी नहीं रह सकती । क्योंकि समस्याएं जिसके द्वारा रचित या गठित की गयी हैं, वह ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया सत्त्वा सम्पन्न चेतन तत्त्व है ।

रोटी-कपड़े की समस्या कोई समस्या नहीं है । जिन देशों में रोटी-कपड़ा खूब है । प्रचुरधन है, वे भी तो समस्याओं के पंजे से अपने को मुक्त नहीं पाते । वहां भी अशांति कुछ कम नहीं है । वर्तमान काल में अमेरीका सबसे अधिक समृद्धि शाली देश है, किन्तु यदि उसकी ओर दृष्टि डाली जाय तो पता लगता है- वहां के जो सब से अधिक धनवान व्यक्ति प्रसिद्ध हैं, उनमें जो सब प्रकार के भोग में ऐश्वर्य में डूब रहे हैं । उनकी आत्महत्या की संख्या ने पृथ्वी के सब देशों का रिकार्ड तोड़ दिया है । अत: देखना होगा भूल कहां है ?

अन्नहीन से अन्न की आशा करना, या शांतिहीन से शांति की आशा रखना जैसे व्यर्थ है, उसी प्रकार समस्या से घिरे जीव से समस्या के समाधान की आशा रखना भी भूल है बेबुनियाद है । किन्तु समस्त समस्याओं का समाधान सर्वज्ञ भगवान् श्री वेदव्यास ने प्रदान किया है - ऋषि नीति की शिरोमणि पुराण सूर्य श्री भागवत तथा श्रीमद्भगवद्गीता के माध्यम से ।

श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत समस्या की चरम अवस्था का समाधान करने के लिये आविर्भूत हुई हैं । हम महात्मा भीष्म के वचनों से जान सकते हैं, महावीर अर्जुन, जो एक मुहूर्त्त में अठारह अक्षौहिणी से भरे समस्त युद्धक्षेत्र में समाधान लाकर प्रदान कर सकता था, वे सर्वबल सम्पन्न-निग्रह एवं अनुग्रह करने में समर्थ होकर भी जब अपनी समस्या के समाधान को ढूण्ढने में व्याकुल था, तभी श्रीमद्भगवद् गीता का आविर्भाव हुआ था । दूसरी ओर जो देश के समस्त समाधानों का स्वामी था, कर्ता-हर्ता और विधाता कहकर पूजा जाता था, उस राजा परीक्षित ने जब जान लिया कि उसे सात दिन में इस जगत् को छोड़कर जाना है, मर जाना है, उसकी समस्या पर तो थोड़ा विचार कीजिये, समस्त समस्याएं अपनी सीमा त्याग कर भाग जाती हैं इस समस्या के आगे । उस समय सुन्दररूप से समाधान देने के लिये जो आविर्भूत हुआ, वह है श्रीमद्भागवत महापुराण, शोकमोह भयापहा श्रीमद्भागवत ।

श्रीमद्भागवत तथा श्रीमद्भगवद्गीता किसी भी साम्प्रदायिक भावधारा की पोषक नहीं हैं । सार्वजनीन भाव से हमें समाधान प्रदान करती हैं और सब प्रकार की समस्याओं में ग्रस्त होने पर भी ये दोनों हमें प्रकृत शांति प्रदान कर सकती हैं । इसलिये ये दोनों सूर्य समस्त देशों में आज भी सम्मानसहित विराजित हैं ।

श्रीमद्भागवत की कथा पर ध्यान दीजिये, जिस समय महाराज परीक्षित् ऋषि बालक के द्वारा सात दिन के भीतर तक्षक से मृत्यु होने के शाप से चिन्तित हो रहे थे तब विभिन्न मनीषियों के विभिन्न मतों से वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठे थे । उसी समय स्वच्छन्द रूप से वहाँ श्री शुकदेव जी पधारे । श्री परीक्षित जी ने जो उनसे प्रश्न किये, वे किसी जाति-सम्प्रदाय के प्रश्न नहीं थे । केवल मानव के लिये ही न थे बल्कि समस्त जीव-चैतन्य के लिये थे । उस समय जो अति मूल्यवान प्रश्न था, वह था कि किस अनुष्ठान के द्वारा इतने थोड़े समय में परम मंगल, पराशांति को प्राप्त किया जा सकता है ? किस प्रकार सर्वश्रेष्ठ श्रेय प्राप्त करना सम्भव है ?

समस्यापूर्ण थे राजा परीक्षित और समाधानकर्ता थे श्री शुकदेव मुनि । एक व्यक्ति तो समस्या की चरम अवस्था में घिरा था और दूसरा समाधान की चरमावस्था का ज्ञाता । इस विषय को श्री भागवत का अध्ययन करने से और भी अच्छी प्रकार समझा जा सकता है ।

राजा परीक्षित् के प्रश्न को सुनकर सन्तुष्ट होकर आब्रह्मस्तम्भ-पूजित आत्माराम श्री शुकदेव जी ने कहा - हे राजन् ! आपका यह प्रश्न केवल आपका नहीं है, यह समस्त जगत् का प्रश्न है और यह प्रकृत-स्वाभाविक प्रश्न है -

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः ।
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ।।
।। श्री भा० २.१.२ ।।

इस जगत् में पशु, पक्षी, कीट, पतंग तथा इनसे पृथक् योनिजात मानव पर्यन्त सब ही अपने प्रयोजन में व्यस्त हैं । आहार, निद्रा, इन्द्रियतर्पण आदि ही सबका प्रयोजन है । इस प्रयोजन की सिद्धि में ही सब प्रकार की समस्याओं की उत्पत्ति है । किन्तु ये सब ही अनात्मवित् हैं- आत्मा या जीवात्मा के स्वरूप को नहीं जानते हैं । क्योंकि जो आत्मवित् हैं उनका आचरण एक सा ही होता है । जो अपने को नहीं देख पाये हैं, जो अपने प्रयोजन को देखते ही स्वीकार करते हैं कि इन्हें प्रयोजन कहते हैं । किन्तु जो अपने स्वरूप को जानते हैं और अपने प्रयोजन को भी सही रूप में जानते हैं, वे आपके इस प्रश्न को ही प्रकृत प्रश्न तथा एकमात्र प्रश्न कह कर स्वीकार करेंगे । जो अनात्मवित् हैं, उनका प्रोग्राम बहुत दिन पहले से ही बुक हुआ रहता है, क्योंकि वे

'गृहेषु गृहमेधिनाम्' ।

आत्मवित् जनों का एक मात्र लक्ष्य रहता है अविद्या के हाथ से छुटकारा पाना । जो व्यक्ति पानी में डूबने जा रहा है, उस की समस्त चेष्टाएं होती हैं किस प्रकार से मैं बच जाऊं ! इस जगत् की उन्नति के लिये जितने प्रकार की बहिर्मुखी चेष्टाएं क्यों न की जायें, वे समस्त मृत्यु के इस पार तक ही रह जाती हैं, मृत्यु से उद्धार नहीं कर सकतीं। - *अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव:* । केवल मोहग्रस्त होकर एक शरीर से दूसरे शरीर में आवागमन करना तथा जन्ममरण ज्वाला-यन्त्रणा का भोग करना— इससे अतिरिक्त और कोई फल अनात्मवित् - अज्ञानीजनों के हाथ नहीं पड़ता । समस्त प्राणी ही अज्ञान से आवृत होकर देह आदि में अहं-मम बुद्धि पोषण करते हुए अनन्त काल तक जन्म-मृत्यु के अधीन होकर भटक रहे हैं । इस अवस्था से तुरन्त छुटकारा एवं शांति धनबल और जनबल खूब एकत्रित करने से कभी कभी प्राप्त नहीं हो सकते । घर-महल, धन- दौलत,आत्मीय जन, बन्धु-बान्धव- कुछ भी तो हमारा नहीं है । यहां तक कि यह शरीर भी अपना नहीं है । यह शरीर मैं हूं, यह मेरा है यही पशुबुद्धि है । जब तक इन सब में मैं और मेरी बुद्धि रहेगी, तब तक हमारी समस्या भी रहेगी । जन्म-मृत्यु, जरा व्याधि तब तक हमें एक देह से दूसरे देह में घसीटते चले जायेंगे । इनके हाथ से छुटकारा पाने का मार्ग इस अवस्था में रहते हुए अनन्तकाल तक नहीं ढूण्ढा जा सकेगा ।

श्रीमद्भागवत का कहना है- तुम अच्छी प्रकार समस्या को देखकर भी समझ नहीं रहे हो । समस्या को देखने का उपाय है- *स्वप्ने यथा शिरच्छेद:* । कोई व्यक्ति यदि स्वप्न में देखे कि उसे सिंह ने पकड़ लिया है और चीत्कार कर रहा हो, तो उसे जगा देने पर उसका समाधान हो जाता है । जागने पर वह देखता है, कोई समस्या नहीं है । जो दिनरात सुख प्राप्ति के लिये हजारों कामनाओं - चेष्टाओं में डूब रहे हैं, उनके लिये तो कोई समस्या नहीं है । श्री शुकदेव जी ने कहा है - *त्वन्तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धि* ! मैं मर जाऊंगा-यही पशु बुद्धि है, तुम मरो मत । हजार प्रकार की समस्या तुम्हारे सामने नहीं है । **Back to God** - आत्मस्थ हो जाओ । *मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति:* । अन्यथारूप का त्याग कर अपने वास्तव स्वरूप में अवस्थित हो जाओ । तुम चिदाकाश के सदस्य हो । जिसको तुम अमृत जान रहे हो, वह विष है । जिन्हें तुम सुख-दुख, मेरा-तेरा कहकर मान रहे हो, वह कुछ भी नहीं है । वह समस्त अविद्या है । *असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय* । अविद्या को पीठ देकर प्रकाश की ओर आगे बढ़ो । जड़ से चेतन की दिशा में अग्रसर होओ । सांसारिक आकर्षण के चंगुल से बच जाओगे ।

To make the best of a bad bargain.

प्राच्य से लेकर पाश्चात्य जगत् के समस्त आत्मानुभवी जनों के मुख से एक ही यह बात सुनी जाती है । सब कहते हैं- कुत्ते के पीछे न भागकर एक बार पहले अपने कान् पर हाथ लगा कर तो देखो । वेदादि में अविद्या ग्रस्त जीवों को विक्षिप्तमति या पागल को **self-center** स्थिर करने के लिये अनेक प्रकार के संस्कारों का उल्लेख मिलता है । असंस्कृत जीव को उस समस्त संस्कारों द्वारा नियन्त्रित करके आत्मजगत् में जाने की योग्यता होने पर ही जीव स्वयं अपने निजत्व की उपलब्धि कर सकता है ।

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।
।।श्रीमद्गीता ६.२६।।

सर्वप्रकार से चेष्टा होनी चाहिये प्रतिबिम्ब से बिम्ब की ओर अवास्तविकता से वास्तविकता की ओर । इस प्रकार एक तरफा अभियान एवं इसे प्रकृत भूतशुद्धि कहते हैं । जिसे भूतशुद्धि कहते हैं वह सब इससे सम्पन्न हो जायगी । शुद्धज्ञान में यहां की अवस्थिति नकारने पर भी भावी जगत् के सम्बन्ध में या प्राप्ति के विषय में भी और समस्या आ उपस्थित होती है । अतएव अब इस सम्बन्ध में कुछ सामान्य कहकर मैं अपने वक्तव्य का उपसंहार करता हूं ।

जड़ से चेतन की ओर अग्रसर होने में विभिन्न आचार्यो के विभिन्न मार्गो को देखा जाता है । किन्तु महा आकाश के नक्षत्रों को यहां से एक ही रूप में देखने पर भी उनकी दूरी जैसे अनेक हजारों वर्ष की ज्योति है, वैसे ही आचार्यो के दान में भी बहुत तारतम्य है । उसको यथार्थ रूप में जानने के बाद श्री चैतन्य देव के अवदान की विशेषता हमारे हृदयंगम हो सकती है । श्री चैतन्य चरितामृत वर्णित रायरामानन्द के संवाद में हम इन समस्त विषयों का समाधान सुन्दर रूप से प्राप्त करते हैं । आप भी किसी सत् पुरुष के अनुगत होकर श्री चरितामृत मध्यलीला के अष्टम् परिच्छेद का यदि पाठ करें तो आप भी उसे भलीभांति समझ सकेंगे । प्राप्ति के स्तर-भेदानुसार प्राप्ति के उपाय का भी स्तरभेद है आचार्यो ने उस विषय में अपनी अपनी अनुभूति तथा निष्ठाके अनुरूप भिन्न भिन्न प्रकाश के द्वारा जीव-जगत् के कल्याण की इच्छा की है । किन्तु श्री चैतन्यदेव की महावदानता की अपूर्व ज्योति में सबके सब पूर्णतया फीके पड़ गये हैं । अनादिरादि परमेश्वर सर्वकारण-कारण सच्चिदानन्दमय भगवान् ने अपने को ही पूर्णरूप से वितरण करने के लिये साध्य की चरम प्राप्ति के उपाय को जब अपने मुख से प्रकाशित किया और स्वयं भी उसका आचरण करते हुए शिक्षा प्रदान पूर्वक स्वरूप प्रवाहित किया, तब ही उनकी कृपा से रामानन्द को

स्वभजन-विभजन-प्रयोजनावतारी भगवान् रूप में श्रीमहाप्रभु की अनुभूति हुई । तब उन्होंने श्रीरूपवर्णित प्रणाम मन्त्र से अर्थात्-

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेम -प्रदाय ते ।
कृष्णाय कृष्ण चैतन्य नाम्ने गौरत्विषे नमः ।

इस श्लोक का उच्चारण करते हुए अपने को उनके समर्पण कर दिया और धन्य हो गये । उसी श्री चैतन्य शिक्षामृत के निर्यास की उत्कर्षता ही धारावाहिक रूप से हम रामानन्द संवाद में संक्षेप से देख सकते हैं ।

नरलील महाप्रभु ने कहा - *"पड़ श्लोक साध्येर निर्णय"* । किस वस्तु के लिये समस्त जीव अपनी समस्त चेष्टाओं को नियोजित करे, उसे आप शास्त्र प्रमाणों से कहिये । इस साध्य के विषय में प्रश्न का उठना भी अनेक जन्मा के भाग्यफल से जीव के हृदय में उठता है । वेदान्त दर्शन के *"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"* - इस प्रथम सूत्र के भाष्य प्रसंग में आचार्यों ने हमें वह बात बड़े स्पष्ट भाव से दिखायी है । श्री महाप्रभु यहां उसी प्रश्न के उत्तर को पूरी छान-बीन के भाव से राय रामानन्द से सुनना चाहते हैं । क्यों ?

इसलिये कि *"स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते* । प्रभुने केवल मौखिक कथनसे नहीं शास्त्रयुक्ति के द्वारा प्रमाणों से पुष्ट करते हुए उनसे उत्तर चाहा । श्री रामानन्द ने भी महाप्रभु के प्रश्न का उत्तर प्रदान करते हुए उसी प्रकार गम्भीर विभिन्न मतवादों का उत्थापन किया । और समाधान करते करते क्रमशः चरमसाध्य की अन्तिम सीमा पर आ पहुंचे ।

"राय कहे- स्वधर्माचरणे विष्णुभक्ति हय।"

स्वधर्म किसे कहते हैं ? वर्णाश्रम के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन । साध्य क्या है विष्णुभक्ति । विष्णु कौन हैं ? - *विश्वं व्याप्नोति* । क्षेत्र के बीच क्षेत्रज्ञ फिर शरीर में आत्मा । और आत्मा का जो आत्मा है वह है विष्णु । वही सब विश्व का स्वामी है- अणोरणीयान् महतो महीयान् । उसको परितुष्ट करना ही साध्यतत्त्व है । रायरामानन्द ने यहां नीतिवादिगण का पक्ष लेकर कहा कि वर्णधर्म तथा आश्रम धर्म के पालन द्वारा ही वह विष्णु भक्ति प्राप्त होती है । विष्णुभक्ति के साध्य होने के सम्बन्ध में राय ने शास्त्र प्रमाण भी पढ़ा । किन्तु वर्णाश्रम के माध्यम से जो उपलब्धि होती है, उसे ब्रह्माण्डान्तर्गत सम्बन्ध परक कह कर श्री महाप्रभु ने कहा - *एहो बाह्य आगे कह आर* । अर्थात् यह अत्यन्त बहिर्मुख लोगों के लिये है । यह छः मास में पहुँचने का लम्बा रास्ता है । सीधी पहुंच की बात कहो । तब राय ने कहा राय कहे, कृष्णे कर्मार्पण माध्यमार । प्रभु कहे, एहो बाह्य आगे कह आर ।

रायकहे, स्वधर्मत्याग एइ साध्यसार ।।
प्रभुकहे, एहो बाह्य, आगे कह आर ।
रायकहे, ज्ञानमिश्राभक्ति साध्यसार ।।

श्रीमहाप्रभु ने कहा - राय ! कर्ममिश्रा भक्ति, नैष्कर्म्य तथा ज्ञानमिश्रा भक्ति - इनमें कोई भी प्रकृत साध्य और साधन नहीं है । उत्तरोत्तर स्तरों की बात होते हुए भी हर एक में अपने को समझने और तोलने का भाव विद्यमान है । प्रत्येक में माया का स्पर्श है । किन्तु जब राय ने यह कहा -

राय कहे, ज्ञानशून्या भक्तिसाध्यसार।

तब श्री महाप्रभु ने कहा- "एहो हय।" अर्थात् अब आप प्रकृत रास्ते पर आये हैं । ज्ञान शून्या भक्ति से ही वास्तव या प्रकृत भक्ति का आरम्भ है । बाईबल में देखा गया है कि ज्ञान वृक्ष का फल ही पतन का कारण है। सब वस्तुओं को हम समझना चाहते हैं - इस मनोवृत्ति को छोड़ना होगा । क्योंकि माप तौल कर लेने वाली बुद्धि ही दुष्ट बुद्धि है । हम इस छोटे से मस्तक के द्वारा उस परतत्व की बात बहुत दूर रही, एक अणु-परमाणु को माप या गिन कर शेष करने में असमर्थ हैं । इसलिये श्री भागवत का प्रमाण देकर कहते हैं - *ज्ञानेप्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति* । तुम में जान लेने की कितनी क्षमता है ? और कितनी समझ - बूझ है ? तुम्हारी अपेक्षा कोटिगुणा अनन्तगुणा तुम्हारे मंगल को समझने वाले व्यक्ति विद्यमान हैं । तुम केवल अपनी समझदारी के भाव को घृणापूर्वक परित्याग कर एवं नमन करते हुए जीवन के पथ को पकड़ो-नमन्त एवं जीवन्ति । तुम देखोगे कि विद्युत्यान की भांति लिफ्ट में बैठकर वैकुण्ठ की भूमिका पर पहुँच जाओगे । जो तुम्हारा बाधक था, वही ही तुम्हारा साधक हो जायगा । और फिर-*सन्मुखरितां भवदीय वार्ताम्* ।" सत्पुरुषों से भगवद्लीला सुनते ही तुम्हारा चौरासी लाख योनियों में भटकना समाप्त हो जायगा । वह उनसे श्रवण करना होगा जो वास्तव सत्पथ का मार्ग दर्शन करा सकते हैं । वास्तव में सही मार्ग दर्शन की आवश्यकता है । यही तुम्हारी रक्षा कर सकता है । *स्थाने स्थिता:* - तुम कहीं भी क्यों न किसी अवस्था में रहो वहां ही सत्संग या कथा श्रवण का सेवन करो । देखोगे कि सब सन्देह मिट जायेंगे । एक मात्र साधु मुख से निकली भगवत् कथा ही जीव की रक्षा कर सकती है । जो व्यक्ति इस रास्ते पर चलते हैं । भगवान् चाहे कितने ही दुर्ज्ञेय, दुर्लभ तथा अजित क्यों न हों, उनके द्वारा वे जीत लिये जाते हैं । श्री भगवान् के ऐसे वचन सर्वत्र ही विद्यमान हैं- *भक्त्याऽहमेकयाग्राह्य:*। साधुसंग में ज्ञानशून्या भक्ति का आश्रय लेने पर अत्यन्त साधारण व्यक्ति को भी भगवत् की प्राप्ति हो जाती है । अन्यथा विद्वान् ज्ञानी को भगवत् प्राप्ति नहीं होती । इसलिये श्री बलदेव विद्याभूषण ने श्री गोविन्द भाष्य में साधु संग के विषय को प्रमाण देकर

निरूपण किया है । साधुजन ही जीवन का माध्यम हैं । कोई भी गुण न रहने पर साधुसंग के प्रभाव से *"सर्वैर्गुणैस्तत्रसमासते ।"* साधुसंग अपने प्रभाव से अत्यन्त घृणित व्यक्ति को भी भगवत् सेवा के उपयुक्त बना देता है । पूज्य एवं सेव्य दर्शन ही प्रकृत वैकुण्ठ दर्शक है । मिस मेयो आदि अनेक लोगों ने इस पूजा की वस्तु का घृणित रूप में प्रचार किया है, किन्तु वास्तव में उनको पूजा की वायु ने भी स्पर्श नहीं किया है । पूजा तत्त्व से वे अनेकदिन हजारों योजन दूर रहे आवेंगे । वास्तव पूज्य बुद्धि लेकर जो संग कर सकता है, उसे कोई भय नहीं रहता । भय ही उसको देखकर दूर भाग जाता है । जिसका आश्रय लेने पर समस्त खोटे भाव एवं गन्दे विचार मूल से ध्वंस हो जाते हैं, उस पूज्य बुद्धि के द्वारा मायिक दृष्टि से छुटकारा पाया जा सकता है। श्री भागवत के *"विक्रीड़ितं व्रजवधू"* - इत्यादि श्लोक से हम इस शिक्षा को प्राप्त करते हैं । तुम्हारा कुदर्शन, तुम्हारी व्याधि और काम एकदम मिट सकती है यदि पूज्य बुद्धि से आश्रित हो सको । जिन्होंने लिंग पुराणादि की रचना की है, उन्हें क्या तुम्हारी तरह इस प्रसंग का ज्ञान नहीं था ? क्या उनकी विद्या, बुद्धि तुम्हारे से कम थी ? किन्तु तभी तो उन्होंने शोक-मोह द्वंद्वरहित भूमिका में अवस्थित होकर हमारे कल्याण के लिये लिखा है । क्यों लिखा है ? हमें कल्पित भय से छुटकारा दिलाने के लिये, हमें भोग-दर्शन से चिरसमाधि पाने के लिये तथा हमारे मायिक विचारों को निरस्त करने के लिये उन्होंने ऐसे प्रसंग लिखे हैं । जीव का भगवत् तत्त्व में कहीं मायिक भाव न उदित हो उठे । इसलिये ब्रह्मज्ञ आत्माराम श्री शुकदेव गोस्वामी, अत्रि, वशिष्ठ, च्यवन, अगस्त्य अधिक प्रधान प्रधान धर्माचार्यों ने महान सभा में पहले ही उन्होंने अपना परिचय देकर सावधान कर दिया है कि निर्गुण में हम परिनिष्ठित हैं - यंह हमारा परिचय आप जानते हैं । अतएव याद रखिये कि हम जैसे ऋषि -मुनि भी जिस की चरितगाथा में मुग्ध होकर आकृष्ट होकर सब कुछ त्याग कर चुके हैं, वह श्री भगवान एवं उनकी वह चरितगाथा प्राकृत मनुष्यों की काममयी कोई विशेष या साधारण कहानी नहीं है । मैं इस दुनिया के बारे में कुछ नहीं कह रहा हूं, न कहना चाहता हूं, मैं तो उस परतत्त्व की कथा आपके सामने रख रहा हूँ, जिनके चरणों में आत्मसमर्पण किये विना - *तपस्विनोदानपरा यशस्विनो, मनस्विनो, मन्त्रविदः सुमंगला-* इन में कोई भी मंगल की प्राप्ति नहीं कर सकता । यह कहकर उन्होंने तुरीय भूमिका की अवतारणा की है । अतः जो लोग प्राकृत बुद्धि से श्रीकृष्ण को तथा उनकी लीला का दर्शन करते हैं, वे केवल वंचित ही नहीं हो रहे, वे महा अपराध करते हैं । उनके पक्ष में श्री चैतन्यदर्शन अनन्तकाल तक गुप्त ही रहा आवेगा - वे उसे नहीं ग्रहण कर सकते ।

श्री भगवान् तुरीय वस्तु हैं, उनकी समस्त ही सत्यं शिवं सुन्दरम् है । श्री चैतन्यदेव ने सर्वतोभाव से उसी सुन्दर तत्त्व श्री कृष्ण की आराधना की शिक्षा जगत् को प्रदान की है और उनकी आराधना प्रणाली भी ऐसी सुन्दर है कि कोई भी व्यक्ति श्री चैतन्य द्वारा प्रदर्शित मार्ग में *"गोविन्दाभिधमिन्दिराश्रितपदं हस्तस्थरत्नादिवत् ।"* प्राप्त कर सकता है । श्री भगवान् उसकी क्रीड़ा पुतली- खिलौना हो जाते हैं । इसी में सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भगवान् की भगवत्ता का चरम प्रकाश है । इसीलिये कविराज गोस्वामी ने कहा है - *"कृष्णेर यतेक खेला सर्वोत्तम नर लीला ।"*

भगवान् कृष्ण के स्वरूप में उनकी नरलीला सर्वोत्तम है एवं उस में पूर्णतमता है । उस आराधना में अतुलं श्यामसुन्दर रूप में पाकर साधक भक्त, शरणागत भक्तजन नित्य काल पूर्ण पञ्चरसों से सेवा करते हैं, यही प्राप्ति की चरम सीमा है । *यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः* । श्री चैतन्यचन्द्र ने उस सुदुर्लभ असाध्य धन को अत्यन्त सुलभ कर दिया है । इसलिये वे ही एकमात्र महावदान्य हैं । इसलिये श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने अत्यन्त दीनता पूर्वक जीव जगत् को श्री चैतन्य के चरणों की शरणागति ग्रहण करने के लिये कातर आह्वान किया है -

दन्ते निधाय तृणकं पदयोर्निपत्य
कृत्वा च काकुशतमेतदहं ब्रवीमि ।
हे साधवः सकलमेव विहाय दूरात्
चैतन्यचन्द्र चरणे कुरुतानुरागम् ।।

परमार्थ-प्राप्ति का पन्थ

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ।।

-श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु

अर्थात् - श्रीहरिसेवाय, जाहा अनुकूल ।
विषय बलिया त्यागे हय भूल ।।

और - 'अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः ।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ।।

-श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु

अर्थात्- आसक्ति रहित सम्बन्ध सहित
विषय समूह सकलि माधव ।।

एक निषेध है और एक विधेय या ग्राह्य है । प्राचीनकाल में पहले त्यागी जीवन की प्रधानता थी । बाद में वेद-उपनिषद्, पुराणादि का मन्थन करके और उनका तात्पर्यार्थ निश्चित करके श्री व्यास : । ने निर्णय दिया है कि समस्त विषय विष नहीं हैं, त्याज्य नहीं हैं । उनके साथ अपना यथायथ अनुसरण करके उसी प्रकार हमको व्यवहार करना चाहिये । भोग, त्याग और सेवा- ये तीन प्रकार के विचार हम देखते हैं । भोग में कुभोग और सुभोग है । त्याग में भी गोलमाल है । भोग को त्याग करने पर ही साधु बना जा सकता हैं - ऐसी किसी किसी सम्प्रदाय की धारणा है । किन्तु वैष्णव आचार्यगण तो ऐसा नहीं मानते । वे एक तीसरे जीवन की बात कहते हैं कि जहां भोग और त्याग— ये दोनों ही अपराधजनक हैं । भोग करना अपराध है अर्थात् दूसरे को अपने काम में लेना । इसका परिणाम अच्छा नहीं होता । यह प्रायः सब सहज में जान सकते हैं । किन्तु भोग की त्याग में ही समाप्ति नहीं है क्योंकि त्याग भोग की तरह बहुत बार भोग से भी अधिक क्षतिकारक सिद्ध होता है । हमारा भोग में भी अधिकार नहीं है, त्याग में भी अधिकार नहीं है । दोनों ही अपराधजनक व्यापार हैं । केवल भगवत् सेवा के सम्बन्ध में सब कुछ के साथ परिचित होकर एवं उसी प्रकार का अनुशीलन करना ही हमारा सर्वोत्तम जीवन है।

दृष्टान्त के द्वारा समझा जा सकता है कि वर्तमान समय में देश का स्वार्थ ही सब से बड़ा है । साधारणतः सब यही कहते और समझते हैं । किन्तु देश के स्वार्थ में जो स्वयं रिश्वत खोरी करते हैं, जैसे वे भ्रष्ट हैं, वैसे ही देश को धर्म घट बनाकर दूसरों को दान करना भी देश के लिये हानिकारक है । (वैशाख मास में सुगन्धित जलभरकर ब्राह्मण को दान दिया जाता है - उसे धर्म घट कहते हैं) । अपने देश के स्वार्थ के लिये सबको यथायथ शक्ति लगाने की जरूरत है, तभी देश का सर्वोत्तम मंगल हो सकता है । देश का दृष्टान्त लिया गया है । देश स्वार्थ का बहुत बड़ा परिचय है । देश के साथ देश के जन समूह का अभिप्राय है । इस सबको छोड़ कर एकमात्र परिपूर्ण वस्तु ईश्वर की सेवा के लिये नये जीवन को प्राप्त करना होगा- यह है सेवा अर्थात् शुद्ध सेवा । ऐसा सेवामय जीवन ही कल्याणप्रद है । यह सेवा कष्टदायी नहीं है । केवल कर्तव्य जानकर सेवा करनी होगी, जिसमें मुझे आनन्द मिलेगा, ऐसी धारणा नहीं है । ऐसी चरमसेवा में ऐसी एक आस्था प्राप्त की जा सकती है, जिसके समान और कोई सुख ही नहीं है एवं और कुछ पाने योग्य नहीं रह जाता ।

हम सब सुख की खोज कर रहे हैं - "दुख हत्यै सुखाय च" । दुःख को दूर

करके सुख-प्राप्ति— की चेष्टा सर्वत्र देखी जाती है । पशु-पक्षी, कीट-पंतग, वृक्ष-पत्थर, स्थावर-जंगम— इन सबमें यदि गम्भीरता से अनुसन्धान किया जाये तो सब के सब सुख के लिये लड़-भिड़ रहे हैं । इस युद्ध को साधारणत: दो भागों में बांटा जा सकता है । एक तो ऊपर से आ रहा है । उसके अनुसार आचरण जो मुक्त-भूमिका से उत्पन्न है । और दूसरा है यहां जगत् के बन्धु-बान्धव आदि की संगति, अवस्था और अपनी बुद्धि से उत्पन्न किया हुआ सुख का रास्ता । एक पतन और अवरोहणमय है और दूसरा आरोही और ऊर्धगामी है । हमारी सीमित बुद्धि के जंगत् के अलावा और एक अतीत प्रदेश हैं । वह सब ही सुन्दर है, अच्छा है इस प्रकार की श्रद्धा एवं विश्वास की सहायता से वहां ऊपर से नीचे आने का ज्ञान हमारे मंगल के निमित्त ही है एवं उसकी महिमा सर्वपिक्षा अधिक एक इसी दल में समझी जा सकती है । यह दल श्रौत पंथ में अपना मंगल खोजता है । दूसरा दल इस जड़ जगत से उत्पन्न मनीषा की सहायता से मंगल की तलाश कर रहा है ।

आरोही पन्थी और अवरोहीपन्थी - ये दो दल दीखने में आते हैं । इनमें जो आरोही- पंथी है, वे आरोहन के उपाय से कल्याण की यहां चेष्टा करते रहते हैं, उनकी बुद्धि-विचार अति सीमाबद्ध होता है यह सहज में समझा जा सकता है । और ऊपर जो नित्यभूमिका में विद्यमान हैं, वे वहाँ रहकर हमारे मंगल के निमित्त, हमारी सहायता के लिये नीचे भेजे जाते हैं । वही वास्तव में हमारे उद्देश्य की सिद्धि में सहायक होते हैं । — यह बात जो समझ सकते हैं वे अवरोही पंथी हैं । कोई कोई बुद्धिमान व्यक्ति यहां की असारता एवं अयोग्यता को समझते हैं और श्रद्धा रूपी सुकृति की सहायता से, विश्वास सहित उसी के अनुसार आचरण करते हैं और फल भी प्राप्त करते हैं ।

श्री उद्धव ने भगवान् श्रीकृष्ण से पूछा— हे प्रभो ! धर्म के नाम से जगत् में बहु प्रकार के आचरण हैं । उनमें क्या ठीक है, क्या नहीं । उसे समझाने की क्षमता मुझमें नहीं है । आप यदि कृपा करें तो इस विषय में उपदेश दीजिये ।

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - प्रलय में कुछ नहीं था, नवीन सृष्टि के उत्पन्न होने पर मैंने ब्रह्मा को धर्म के बारे में बताया था । धर्म की विषय वस्तु मैं ही हूं ! मैं सत्य हूं, मूल वस्तु तथा उद्दिष्ट वस्तु हूं । मुझे प्राप्त कर लेने पर सब कुछ को पा लेना है । श्रीगीता में भगवान् ने कहा भी है -

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ।।

श्री भगवान् एक ऐसी वस्तु हैं कि अन्य समस्त वस्तुओं को त्याग कर, उन्हें पा लेने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है । वेद में भी कहा गया है -

यस्मिन् ज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति ।
यस्मिन् प्राप्ते सर्वमिदं प्राप्तं भवति ।।

श्रौत सिद्धान्त की मूल बात यह है कि वह एक ऐसी आशा-भरोसा देता है कि एक वस्तु को जानने और पा लेने से सब वस्तु को जाना और पा लिया जाता है । वह वस्तु हैं पुरुषोत्तम तत्व श्रीकृष्ण । उन्होंने उद्धव से यही कहा कि वह वस्तु अर्थात् धर्म का विषय मैं ही हूं । किन्तु मुझसे ब्रह्म, ब्रह्मा से उसके शिष्य, इस प्रकार उनसे उनके शिष्यगण-इस प्रकार परम्पराक्रम से धर्म अवतीर्ण हुआ है । वह फिर इस परम्परा तथा माया की वैचित्री के माध्यम से अनेक प्रकार का हो रहा है । उसके फिर कई भेद भी हैं ।

आजकल का जो पाषण्ड मत (Fossilism) है उसमें क्रमश: विकास हो रहा है । पहले प्राणी, फिर मनुष्य और सबके ऊपर मनुष्य है— यह बात सत्य है । इन सब वाक्यों का अनर्थ किया जा रहा है । इसके द्वारा अनेक क्षति हो रही है । इसलिये भगवान् कभी कभी स्वयं और कभी अपने निजी जनों को धरातल पर भेजकर लोगों में पुन: धर्म का संचार करते हैं विशेषत: जब अनेक प्रकार के उपद्रव दीखते हैं और नाना प्रकार के विपरीत आचरण होने लगते हैं । साधारण लोग इस बात को नहीं जान पाते । किन्तु शास्त्र एवं साधुजनों के माध्यम से इस रहस्य को जाना जा सकता है । शास्त्रों का परिपूर्ण विकाश श्रीमद्भागवत में हम देख पाते हैं और बुद्धिमान लोग समझ सकते हैं । श्रीभगवान् ने श्रीगीता में कहा है-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।

हम देखते हैं कि श्री चैतन्य देव ने इस कलियुग में तथा श्रीमद्भागवत ने द्वापर के शेष में अवतीर्ण होकर दोनों ने मिलकर एक अद्भुत मार्ग का आविर्भाव किया है । वह एक मात्र भगवान् के नामानुशीलन के द्वारा ही शब्द ब्रह्म के अनुशीलन द्वारा ही श्रीहरि कीर्तन से सब कार्य सिद्ध हो सकते हैं एवं सर्वाभीष्ट लाभ हो सकता है।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुण: ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंग: परं व्रजेत ।।

कलियुग समस्त दोषों का भण्डार है, तथापि हे राजन् ! कलि में एक महान गुण यह है कि श्रीकृष्ण कीर्तन से जीव माया बन्धन से मुक्त होकर श्रीकृष्ण रूप परतत्व को प्राप्त कर लेता है ।

बन्धन से मुक्ति का उपाय

इस पृथ्वी पर हम, तथा असंख्य जीव वास करते हैं, किन्तु सब कैसे जीवित रह रहे हैं यदि इस पर विचार किया जाय तो पता लगता है जीवित रहने या बचे रहने का अर्थ है शोषण करना । शोषण किये बिना कोई भी यहाँ नहीं बच सकता । ऋषि जन इस शोषण की बात कह गये हैं - *जीवो जीवस्य जीवनम्* - जीव ही जीवों का जीवन है । यहाँ हर एक दूसरे को खाकर बच रहा है । एक शरीर का बचाना या पोषण करने का अर्थ है लाख लाख जीवों की हत्या करना । फिर यह भी कहा गया है कि जैसा कोई कर्म करता है, वैसा ही उसे फल भोगना पड़ता है । न्यूटन ने कहा है - **For every action there is an equal & opposite reaction.**

आदर्श की दृष्टि से कोई छोटा बड़ा नहीं । मैं आज जिस को खाता हूँ, वह भी मुझे एक दिन खायेगा । यह जगत् का संविधान है अविचार लेकर मायिक जगत् में । इसलिये यह जो शोषण करना हो रहा है, उसका पूरा पूरा शोध कर देना चाहिये । इसी शोषण के लिये ही जीव अनादि काल से हिण्डोले कि भांति ऊपर जाता है और फिर नीचे आता है ।

शोषण करने से भारी हो जाता है । ऋण के भार से भारी होकर नीचे आना पड़ता है । झूले की भाँति अपने आप फिर ऊपर उठता है और जो शोषण करके गया है उसके फल से फिर नीचे आता है । हलका होने पर जीव ऊपर जाता है और भारी होने से नीचे आता है ।

इसलिये यह जो अवस्था है, इस दुष्ट चक्र से बाहर होने के उपाय को ढूँढ़ने से श्रीगीता उसका उपाय कहती है । श्रीभगवान् कहते हैं—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकेऽयं कर्मबन्धन:
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंग: समाचर ।।

अर्थात् जो कर्म श्रीभगवान् के उद्देश्य से किया जाता है, वह बन्धन का कारण नहीं होता । यदि अपने लिये कोई कर्म किया जाता है तो वह बन्धन का कारण बनता है । **Action** और **Reaction** के बन्धन में पड़ना होता है । अत: उस यज्ञेश्वर श्रीकृष्ण को उद्दिष्ट कर जो कार्य किया जाता है, वह नहीं बांध सकता । जैसे एक पुलिस मैन

यदि सरकार के प्रयोजन से दस मनुष्यों को मार डाले तो उसका कुछ नहीं बिगड़ता किन्तु अपने स्वार्थ के लिये यदि एक व्यक्ति को सामान्य रूप से प्रहार करे तो उसे दण्ड भोगना पड़ता है ।

यहां तुम अपने स्वार्थ के लिये कुछ मत करो, श्रीभगवान् के एजेन्ट बनकर, उसके दास बनकर उनकी अनुभूति पूर्वक सब कर्म करो । अपना स्वार्थ त्याग कर जो कर्म होगा । उसका दायित्व मालिक के ऊपर चला जायगा । वहां उसके दरबार में सब प्रकार की व्यवस्था है । श्रीभगवान् ने श्रीगीता में कहा है—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम ।।

हे अर्जुन ! तुम लौकिक और वैदिक जो भी सब कर्म करो, जो कुछ खाओ, जो यज्ञ करो, जो दान करो, जो व्रतादि करो, वे जैसे सब मुझको अर्पित हों, उस भाव से करो । मुझे उनका फल अर्पण करो । काम के मालिक तो तुम हो, किन्तु फल के नहीं । फल का मालिक मैं हूँ । अतः श्रीभगवान् से सम्बन्ध जोड़कर कर्म करने से उसका फल तुम्हें बान्ध नहीं सकता । श्री भगवान् ने ऐसा कहा है और यह बात अति बलशाली नहीं है—ऐसा समझा जाता है ।

तुम श्रीभगवान के **agent** सेवक बन कर सब काम करो । तुम भगवान् की सेवा करोगे-यदि ऐसी तुम्हारी भावना है तो वह बहुत बुरी है । तुम सेवक भाव से सब करो, फिर उनको निवेदन करके प्रसाद रूप में सब ग्रहण करो । नित्य चिन्मय राज्य के एक सदस्य बन कर अपना कर्त्तव्य पालन करो । जितना तुम्हें चाहिये उतना उस भण्डार में से लो ! इस प्रकार कर्म करने से तुम्हें पाप का फल भोग नहीं करना होगा । तुम जो जीव-हत्या करते हो, जैसे लता-पता, साग-सब्जी खाते हो, उन सबमें प्राण हैं । किन्तु जब श्रीभगवान् के लिये वे सब प्रयोग में आयेंगे, तब उनके नष्ट होने का पाप भी तुम्हें नहीं लगेगा । क्योंकि सबका एक सम्बन्ध उस केन्द्र से है । भगवान् परतत्व हैं और वही भोक्ता हैं । जर्मनी के फिलॉसफर ने कहा है— **Reality is by itself and for itself,** अर्थात् सब कुछ उस नित्य तत्व के लिये है । यदि ऐसा न हो तो वास्तविकता नहीं होगी । परतत्व होने एवं परम कारण होने से उसका एक वैशिष्ट्य है ही । **By itself and for itself** । **by itself** का अर्थ है कि वे अपना कारण आप है । उसको जन्म या पैदा करने वाला कोई नहीं है । वह स्वयंभू **Eternal** है । और **For itself** का अर्थ है वह अपने लिये ही है । यदि वह किसी दूसरे के लिये हो तो वह उससे बड़ा हो जायेगा । किन्तु वह सबसे सर्वथा बृहत् तत्व है एवं सब कुछ उसके लिये है । श्रीगीता में भगवान् ने कहा है —

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।।

सब कुछ मेरे लिये है और मैं ही सबका भोक्ता हूँ । मैं सबका स्वामी हूं और सब मेरे दास हैं । मैं ही एक मात्र अद्वयतत्व हूँ ।

जब जीव इस बात या सिद्धान्त तक पहुँच जाता है-

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।

कि समस्त यज्ञों-पदार्थों का भोक्ता मैं हूं और सर्वलोकों का महेश्वर मैं हूं, सब प्राणियों का शुभाकांक्षी मैं हूं—श्री भगवान् कहते हैं, ऐसा मुझे जानकर वह व्यक्ति शांति लाभ करता है । वह जान लेता है एक मात्र मैं परतत्त्व हूं सबका Controller हूं और सबका सुहृद हूं । तुम्हारे हाथ में यदि कोई शक्ति अधिकार नहीं हो, फिर एक सज्जन बलशाली पुरुष के आश्रय में रहकर तुम निश्चिन्त होकर रह सकते हो। क्योंकि वह सत् पुरुष है और तुम्हारा हितकारी है । ऐसे ही राजा की प्रजा निश्चिन्त होकर शान्ति लाभ करती है । वह राजा बलशाली होने से सबका यथायोग्य पोषण करता है । अतएव तुम यह समझने की चेष्टा करो कि **Ultimate Power, Ultimate reality is friendly to all.** वह सर्वशक्तिमान सर्वेश्वर नित्य समस्त जीव का हितकारी है । हम जितना अपना हित-अनहित सोच सकते हैं उससे कहीं अधिक श्रीभगवान् समझते हैं और करने के लिये आतुर रहते हैं । यही बात समझ लेने पर हमारा सब उद्वेग समाप्त हो जायेगा । उस समय मन जान लेगा कि सबका मूल स्वामी जिसकी इच्छा से सब कुछ होता है, वही मेरे बन्धु हैं, फिर मुझको किसका भय ? मेरा कोई भी कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता । इस अवस्था में ही चित्त वास्तव में शान्ति प्राप्त कर सकता है ।

एक प्रश्न उठता है-कि मन को इस अवस्था तक ले जाना कैसे सम्भव हो ? इस विषय में अनेक विवेचना करने पर यही कहा जा सकता है कि **Association is the best and most forceful thing to convert.** संग का प्रभाव गुण हम अपने जीवन में पद-पद पर अनुभव करते हैं । जब रोग में कोई औषधि काम नहीं करती है तब रोगी जलवायु को बदलता है वहां की जलवायु जाने कैसे उस रोगी के शरीर को स्वस्थ कर देती है । हम नहीं समझ पाते किन्तु वहां की आबो-हवा हमें स्वस्थ कर देती है । इस प्रकार सत् पुरुषों के संग में जहां उस प्रकार की चित्तवृत्ति है । उस वातावरण में अपने को ले जाना चाहिये । वहां जाने पर वह अवस्था अपने-आप सत्संग के प्रभाव से प्राप्त हो जायेगी-परिवर्तन आ जायेगा । हमारी समस्त दुष्ट भावनाएं स्वार्थपरता, हिंसा-द्वेष इत्यादि वहां के निर्मल भावनाओं से नष्ट हो जायेंगी । जैसे मैला जल स्वच्छ

जल में मिलकर स्वच्छ हो जाता है । अत: साधु संग तथा शास्त्र इन दोनों के संग-प्रभाव को प्राप्त करने का प्रयोजन है । साधु संग तथा शास्त्र अत्यन्त बलशाली हैं । उनका संग प्राप्त करके अपनी भूलों का संशोधन करके भगवत् की ओर अग्रसर होना होगा। इन दोनों के संग बिना मन को वश में करना अति कठिन है । श्रीभगवान् को श्रीगीता में अर्जुन ने कहा है-"*चञ्चलं हि मन: कृष्ण प्रमाथि-बलवद्दृढ़म्* । मन स्वाभावत: ही बड़ा चंचल है । इसको स्थिर करना बड़ा कठिन है । इसके उत्तर में श्री भगवान् ने कहा है-*अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते* । सद्गुरु के उपदेश अनुसार परमेश्वर के ध्यान योग का बार-बार अभ्यास करने से तथा विषयों के प्रति वैराग्य करने से चंचल मन को वशीभूत किया जा सकता है ।

हममें जो परिवर्तन आता है या हम कुछ ग्रहण करते हैं, वह हमारी इन्द्रियों के माध्यम से होता है । श्रीभागवत में देखिये-परीक्षित् महाराज ने कहा है-हमारी पूँजी हैं ये पांचों इन्द्रियां-चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक् । इनको बीच में रखकर हम कुछ प्राप्त कर सकते हैं । इनको किस प्रकार नियुक्त करके हम मंगल प्राप्त कर सकते हैं । मेरी केवल सात दिन की परमायु है । कृपा करके आप बताइये । मैं कैसे इन्हें अच्छी प्रकार नियुक्त करके अपना वास्तव मंगल लाभ कर सकता हूँ । इसके उत्तर में भी शुकमुनि ने समस्त श्रीभागवत कही है । बड़े बड़े ऋषि चुप करके उसे सुनते रहे । सात दिन पर्यन्त श्रींभागवत कीर्तन चलता रहा । जिस प्रकार उस में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है, उस सबकी आलोचना करनी होगी ।

हमें मनुष्य तन मिला है । मर जाने के बाद फिर भी मनुष्य तन मिलेगा । इसमें कुछ निश्चयता नहीं है । किस योनि में जाना होगा कुछ पता नहीं । क्योंकि हमारे भीतर अनेक प्रकार की आशाएं हैं, आकांक्षाए एवं संस्कार हैं । वे क्या काम करते हैं, वह सब सूक्ष्मभाव से सुरक्षित है । उस समस्त वासनाओं के अनुरूप हमारा जन्म होगा ।

इसलिये मनुष्य तन पाकर अपनी स्वयं कुछ सहायता की जा सकती है । इस मानव जन्म में जो कुछ करने की स्वतन्त्रता पायी है, उसका सदुपयोग करना चाहिये। ताकि ऐसा हो कि शुभ कर्मो द्वारा उस अवस्था को हम प्राप्त कर सकें, जो पूर्व कर्मफल हमें भोग न करना पड़े । उस समस्त वासनाओं को भीतर ही भीतर दबाकर विनष्ट कर दिया जाये।

इसलिये शास्त्र बार-बार कहते हैं कि इस मानव-जन्म को पशु जन्म की भांति मत बिताओ । आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन-सब जन्मों में पाये जाते हैं । एक कुत्ता रास्ते में सोकर जो सुख अनुभव करता है तुम अच्छे बिछौने पर सोकर भी प्राप्त

नहीं कर सकते । शूकर विष्ठा खाकर जैसे तृप्त हो जाता है, तुम षट्व्यंजन खाकर भी वैसी तृप्ति प्राप्त नहीं करते । अत: कुत्ता शूकर जहां भी जायें वहां इन्हें यही प्राप्त होंगे-उससे उन्हें कोई निकाल नहीं सकता । किन्तु तुम्हारा शाश्वत जीवन है जो चक्र चल रहा है, इससे बाहर निकलने की व्यवस्था केवल इस मानव जन्म को छोड़कर और किसी योनि में नहीं है । अत: इस मानव-जन्म को पाकर ही अपने उस शाश्वत या नित्य जीवन के इस समाधान के लिये जो कर्त्तव्य है उसे करो । इस प्रकार से जीवन धारण करना ही बुद्धि मानी है । यदि मानव-योनि में तुम ऐसा नहीं करते हो, अवसर गवां देते हो तो मानो आत्महत्या करते हो । इस बहुमूल्यवान मनुष्य जन्म को पशुओं की चेष्टा में नियुक्त करना सुवर्ण देकर धूलि का बोझा उठा रहे हो, इससे बढ़कर दुख और क्या हो सकता है ?

इसलिये दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर पूर्व जन्म के अथवा इस जन्म के तुम्हारे जो किये हुए कर्म हैं उनसे निस्तार पाने के लिये सद्गुरु के चरणाश्रय होने की तथा शास्त्र-आलोचना का प्रयोजन है । स्वप्न में जो शरीर को देखता है, उसी प्रकार यह जगत् है । अलग रीति से अपनी इच्छा से स्वतन्त्र चलने से काम नहीं चलेगा । यहां से भी सुन्दर न्यायपूर्वक राज्य-शासन है, उसका ध्यान करो । हमारा शरीर तो एक दिन यहां नष्ट हो जायगा, अपका परिवार तो उस नित्य जगत में है । वास्तविक चेतन की जों अनुभूति है, जो सुख दु:ख का अनुभव करता है, वह उसी सात्त्विक शरीर के भीतर है । हम सुख-दु:ख अनुभव करते हैं उसी चेतना के द्वारा । हमें दुख से ही भय है । सुख चाहते हैं और दुख को भगाना चाहते हैं । दुख का समाधान हम चाहते हैं । स्वप्न-देह के मन में चेतन रहता है, वही बाहर जाकर इधर-उधर भ्रमण कर दुख का भोग करता है ।

मानव देह पाकर इस दु:ख को दूर करने का उपाय ढूँढ़ना है, अपने लिये ही यह खोज करनी होगी । अपना समाधान स्वयं न करने पर और दूसरा कौन कर देगा । श्री गीता में भगवान् ने कहा है-

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन: ।।

हम स्वयं ही अपने बन्धु हैं और आप ही अपने शत्रु हैं । अपनी सहायता स्वयं न करने पर अपने साथ शत्रुता करना है । यदि सच्ची सच्ची सहायता की जाये तो वह अपने साथ मित्रता करता है । छोटा बच्चा पढ़ना लिखना छोड़कर खेलकूद में मस्त रहता है । तब अभिभावक या माता-पिता घुमा-फिरा कर उसे कहते हैं-अब यह खेल-कूद त्याग कर कुछ पढ़-लिख ले, कुछ काम काज सीख । इसी प्रकार ऋषिगण

एवं धर्म के पिता माता-आचार्य गण कहते हैं कि इस प्रकार सोच-विचार में समय मत बिगाड़ो, अपने भीतर अनेक समस्याएं हैं । जिसे तुम नहीं चाहते, वह आकर उपस्थित होता है, इसलिये उसका प्रतिविधान करो । बाहर के सोच-विचार में उन्मत्त होकर मूल्यवान समय नष्ट मत करो । इस मानव जीवन में ही दिव्य ज्ञान प्राप्त करना होगा । इस ज्ञान में चौथा आयाम है । इस जगत् में एक के बाद दूसरी अनेक वस्तुएँ हैं, उन सबको समझने के लिए अपने को तैयार करना होगा । यही समझने की बात है, यह वह बात नहीं या कथा-कहानी नहीं कि अनेक सुनने पर भी कान में जूं नहीं रेंगे । जैसे पहले थे अब भी वैसे ही रहे आये । अर्थात् सुनकर आचरण करने की आवश्यकता है ।

वैष्णव-जीवन में आनुगत्य

आत्मनिवेदन या आत्मसमर्पण करके प्रभु के आश्रित पशु की भांति रहना होगा। पशु दूध देता है, फसल देता है, किन्तु पशु का जो मालिक होता है, दूध-फसल आदि सब वही लेता है । मालिक वही है पशु जिसके आश्रित रहता है हमें प्रभु के लिये ही सब काम करना होगा । यदि ऐसा नहीं करते, तो पूर्व कर्मों के फल भोग के लिये ब्रह्माण्ड में भ्रमण करना होगा, जैसे अनादिकाल से हम कर रहे हैं ।

हम देखते हैं कि इस माया जाल से निष्कृति की बात बताते हैं वैष्णवजन । त्याग की बात बुद्ध और शंकर कहते हैं । किन्तु भक्ति के बिना परम पद की वे प्राप्ति नहीं कर सकते । श्रीभागवत (१०.२.३२) में कहा गया है-

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्ध बुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदंघ्रयः ।।

अर्थात् भक्तिहीन ज्ञानी व्यक्ति अपने को विमुक्त कहकर मानता है, किन्तु अपनी सीमाबद्ध चिन्ता में रहकर उसका ऊपर श्रीभगवान् से जो सम्बन्ध है, उसे त्याग कर उसी धारणा में ही डूबा रहता है । फलस्वरूप अनेक कष्टपूर्वक ब्रह्म लोक पर्यन्त जाकर भी भक्ति-संचार को नहीं धारण कर पाता । फिर नीचे आकर पतित होता है । फिर संसार में जन्म-मृत्यु के चक्कर में उसे पड़ना होता है ।

अतएव वैष्णव धर्म को समझ जाने पर साधक को ब्रह्म लोक के ऊपर जाना होगा । वहां प्राप्त होता है भोग का राज्य, त्याग का एवं सेवा का राज्य । इसलिये भोग्य जगत् से त्याग के जगत् में जाना होगा । तब त्याग में समाधि लगा कर बैठने

से काम नहीं चलेगा । उस राज्य में तो सेवा की **current** लहर है, उसे पकड़ना होगा । सेवा भी किस प्रकार की ? उसे भी समझना चाहिये । सेवा है, भगवान् इच्छा करेंगे और मैं पालन करूंगा । इच्छा के मालिक वही हैं, प्रयोजनानुसार जो वे बोलेंगे और मैं अविचारपूर्वक उनकी इच्छा का पालन करूंगा । इस प्रकार का जगत् है वैकुण्ठ लोक । वहां एकजन ही प्रभु है । वे आज्ञा करते हैं और सब उनके आदेश का पालन करते हैं । इस प्रकार की जो सेवा है, उसका हिसाब-किताब करना, ऐश्वर्य-वैराग्य की देखभाल करना वैकुण्ठ लोक का व्यापार या रीति-नीति है । वैकुण्ठ के ऊपर प्रकोष्ठ में है गोलोक । वहां केवल अनुराग से परिचालित होती है सेवा । वहां हिसाब किताब नहीं है । स्वाभाविक सेवा है केवल अनुराग । सेवा किये बिना अच्छा नहीं लगता, सेवा करना ही अच्छा लगता है । यह स्थिति है गोलोक में । किस तरह उस अवस्था में पहुंचा जाय, उस पर अब विचार करते हैं । इस सम्बन्ध में श्री महाप्रभु कहते हैं-

दीक्षाकाले भक्तकरे आत्मसमर्पण ।
सेइ काले कृष्ण तारे करे आत्मसम ।।
सेइदेह करे तार, चिदानन्दमय ।
अप्राकृत देहे ताँर चरण भजय ।।

दीक्षा ही दिव्य ज्ञान है । अर्थात् आप (श्रीभगवान्) सेव्य हैं और मैं (जीव) सेवक । आप पुरुष हैं और सब प्रकृति है । इसलिये उनके लिये ही मुक्तावस्था में भी-सेवा का विधान है । श्री भगवान इच्छामय हैं, वे जो इच्छा करें हम उसका पालन करेंगे । उनकी इच्छा को पूर्ण करते हैं, इसलिये हम दास हैं । श्री महाप्रभु ने कहा है—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास ।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश ।।
कृष्ण भूलि सेई जीव अनादि बहिर्मुख ।
अतएव माया तारे देय संसारादि दुःख ।।

अब साधु-कृष्ण भक्तों के संग में रहकर हृदय में श्रीकृष्ण के सम्बन्ध को जाग्रत करना ही हमारा कर्त्तव्य है । वहां क्या है ? श्रीकृष्ण प्रभु हैं मैं सेवक हूं । हमारा धर्म है सेवा करना । उनका धर्म है सेवा लेना । वे सुखस्वरूप, आनन्दस्वरूप हैं । सेवा के द्वारा ही उस उत्कृष्ट जाति का सुख प्राप्त किया जा सकता है । सेवा के द्वारा ही उनकी कृपा प्राप्त होती है, उससे सुखस्वरूप, आनन्दस्वरूप प्रभु का आनन्द संचारित हो सकता है, जो भोग के द्वारा सम्भव नहीं है । भोग है निम्न स्तर की वस्तु, जड़ जगत् की वस्तु । और त्याग के द्वारा बीच की मुक्ति अवस्था, किन्तु इन

दोनों के परे है भक्तिराज्य । श्रीमद्भागवत (६/१४/४) में कहा गया है-

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण परायण: ।
सुदुर्लभ: प्रशान्तात्मा कोटिष्विपि महामुने ।।

कोट मुक्ता में एक कृष्ण भक्त मिलना सुदुर्लभ है । कृष्ण भक्त मुक्त तो होता ही है अपितु वह भगवान् के सेवा सुख में विभोर रहता है ।

अतएव सद्गुरु के आश्रय में उनके दास्य में रहकर अपने विचार का उत्तर देना होगा । अपने मन को तब बोलना होगा कि मैंने तुम्हारी बात बहुत समय तक सुनी है अब और नहीं सुनूंगा । अब वैष्णव गुरु का दास होकर उनकी बात सुनूंगा । वे जो कहेंगे, उससे मेरा कल्याण होगा ।

मैं श्री गुरुदेव की सेवा करूँगा, उनका आदेश पालन करूंगा — इस प्रकार का मन जब हो उठेगा तभी वास्तव रूप के जीवन का आरम्भ होगा । वह होगा वैष्णव-जीवन । "भृत्यस्य भृत्य" होना होगा तभी कुछ लाभ की सम्भावना है । श्री महाप्रभु ने कहा है-

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी नच गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा ।
किन्तु प्रोद्यन्निखिल परमानन्दपूर्णामृताब्धे
र्गोपीभर्त्तू: पदकमलयोर्दास-दासानुदास: ।।

मैं वर्ण और आश्रम-इन चारों में किसी के अन्तर्गत नहीं हूँ, मैं इनसे अतीत हूँ । गोपीभर्त्तू पदकमलयोर्दासदासानुदास:" मैं गोपी वल्लभ श्रीकृष्ण के चरण कमलों के दासों के दासों का भी दास हूं । यह अवस्था कैसे प्राप्त होगी ? श्री महाप्रभु कहते हैं—

एइ सब छाड़ि आर वर्णाश्रम धर्म ।
अकिञ्चन हइया लय कृष्णैक शरण ।।

गोपीकान्त जो श्रीकृष्ण हैं, स्वयं भगवान् हैं, उनके दासों के दासों का दास होना चाहता हूँ- यही मेरा परिचय है । अत: दास्य भाव का अनुशीलन करना होगा। कृष्णदास्य कैसे होगा, हरिदास्य कैसे प्राप्त हो- उसके लिये जो वैष्णवजन एकान्त भाव से कृष्णगत प्राण है, उनके आश्रय में रहकर उनकी सेवा करनी होगी । सेवा किये बिना उस लोक में प्रवेश नहीं हो सकता । वहां जाने का वीज़ा जुटाना होगा । पासपोर्ट होने पर देश से बाहर जाया जा सकता है, किन्तु वहां से वीज़ा के बिना विदेश में प्रवेश नहीं किया जा सकता । इसी तरह वैकुण्ठ का भी वीज़ा प्राप्त कर लेने पर ही यहां प्रवेश किया जा सकता है । मुक्ति तो पासपोर्ट है, जगत् से मुक्ति हो जाती है,

किन्तु वैकुण्ठ के लिये भगवत् सेवा रूप वीज़ा आवश्यक है ।

अत: गुरुदास्य और कृष्णदास्य है अपने को निवेदन कर देना । निवेदन में चातक की भांति होकर रहना होता है । श्रीरूपगोस्वामी ने कहा है-

विरचय मयि दण्डं दीन बन्धो दयाम्बा
गतिरिह न भवत्त: काचिदन्या ममास्ति ।
निपतत् शतकोटिनिर्भरं वा नवाम्भ-
स्तदपि किल पयोद: स्तूयते चातकेन ।।

हे प्रभो ! मुझे दण्ड दीजिये अथवा दया, इस संसार में आपको छोड़कर मेरी और गति नहीं है । बज्रपात ही हो अथवा नवजलद का वर्षण, चातक सर्वदा मेघ की स्तुति ही करता रहता है ।

कितना सुन्दर उदाहरण है ! चातक दोनों अवस्थाओं में एक सा रहता है । वह चाहता है केवल एक बून्द स्वाति का जल । पृथ्वी का जल कभी ग्रहण नहीं करता। अत: इसी भाव से उस लोक को जाने का लक्ष्य कर चलने की चेष्टा करनी होगी । मेरी और कोई गति नहीं है । कोई आश्रय नहीं है । जहां जाऊं वहां मरण ही होगा। एक मात्र मृत्यु को लांघ कर आपके धाम में जाना चाहता हूं ।

यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।

वहां जाने पर मृत्यु, संसार का आवागमन समाप्त हो जाता है । यही वास्तव में प्राप्य वस्तु है, सहज नहीं उसकी प्राप्ति कि जो मैं समझता हूं वही कर रहा हूं-इससे काम नहीं चलता, वह वस्तु प्राप्त नहीं होती ।

गुरु वैष्णव के आश्रय में वास करने का अभिप्राय है कि वहाँ अपनी स्वतन्त्रता नहीं चलेगी । स्वतन्त्र जीवन तो अनेकं पाये हैं । दु:ख भी अनेक भोगे हैं । श्री भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं-

बहु दु:ख पाइयाछि स्वतन्त्र जीवने ।
सब दुख दूरे गेल ओ पद वरणे ।।

अपने को सही मार्ग पर चालित करना होगा । मन को कहना होगा कि तुम्हारे पीछे लग कर जन्म-जन्मान्तर में अनादिकाल से भटक रहा हूँ । अब मैं ऊपर के महत् पुरुषों की बात सुनूंगा । श्री भगवान् द्वारा प्रेरित आज्ञा को सुनूंगा । तुम्हारी खुराक आज से एकदम बन्द कर दी जाती है । बिना खाये तू मर जायेगा ।

"सर्व मनोनिग्रह लक्षणान्त ।" मन तू नष्ट हो जायेगा । केवल मौखिक बातें बनाने से काम नहीं चलेगा । संकल्प विकल्प करना मन का धर्म है । मन तो कहता

है, यह चाहिये, फिर कहता है यह नहीं चाहिये । यह तो मन का व्यापार है उसने हमारा सर्वनाश किया है । एक दुष्ट मैनेजर की करतूत है कि ब्रह्माण्ड में घूम रहे हैं, विद्रोही व्यवस्थापक की भूमिका में भटक रहे हैं । आत्मा ही सत्त्वाधिकारी है परन्तु वह उपाधिकारी है, नाबालिग है । और विद्रोही मैनेजर है मन, आत्मा की तरफ से यही काम-काज करता है । अत: एक अन्य बड़े मालिक के साथ इस गुरुरूप उप मैनेजर के मेल से अपने मन रूपी मैनेजर को दमन कर अपनी स्थिति ठीक करनी होगी ।

इसलिये हमें प्राकृत मन में जो आता है, उसे नष्ट कर देना होगा । कहना होगा तुम्हारी बात नहीं सुनूंगा तुम्हारी कथा अनेक जन्मों से सुनता चला आ रहा हूं । तुमने जो सलाह मशविरा दिये हैं वह सब विश्वासघात है, उसमें तु मुझे ले जाना चाहता है । मैंने आज जिसका आश्रय पकड़ा है, उसका आदेश सुनूंगा, तुम्हारी छुट्टी है । श्री माधवेन्द्र पुरी पाद ने कहा है-

कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशा-
स्तेषां जाता मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः ।
उत्सृज्यैतानथ यदुपते साम्प्रतं लब्ध्र बुद्धि-
स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुंक्ष्वात्मदास्ये ।।

काम-क्रोध-लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य इन सब मालिकों की बात मैं कबसे, कितने समय से, कितने जन्मों से सुनता चला आ रहा हूं, कुछ पता नहीं है । इनके खोटे-गन्दे निर्देशों को अनेककाल से बहुत जन्मों से पालन करता आ रहा हूं । उनकी सब बातें मैंने सुनी हैं, मानी हैं, किन्तु उनमें मेरे प्रति जरा भी करुणा नहीं हुई । और मुझे भी लज्जा नहीं लगी कि उनके बुरे आदेशों को पालन करता आया हूं, हाय ! मैंने कैसे कैसे घृणित आचरण किये हैं ? किन्तु अब मुझे अच्छी बुद्धि प्राप्त हुई है, हे ठाकुर ! हे यदुपते ! यदि मैं किसी प्रकार आपकी चाकरी का रिश्ता आप से जोड़ सकूं तो आपके भय से ही वे सब दुष्ट भाग जायेंगे । यदि आप एक बार मेरे ऊपर दृष्टिपात कर दें तो मैं बच सकता हूँ, कारण कि माया मुझसे तो जरा भी भय नहीं मानती, हां यदि आपका जरा भी इशारा हो जाय, तो माया मुझे कष्ट न दे पायेगी। श्रीभगवान् ने श्रीगीता में कहा है-

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।

श्रीभगवान् की माया जीव को उनकी कृपा प्राप्त करने पर छोड़ जाती है । माया जीव से बलवान हो । किन्तु भगवान् के वह अनुगत है । अत: भगवान् यदि जरा सा इशारा कर दें, तभी माया छोड़ जाती है । वरना जीव लाख-लाख उपाय क्यों

न करे माया उसे नहीं छोड़ती । हम देखते हैं कि हम अपने को इस भोग-त्याग के रहते हुए भी अपने को माया से छुटकारा नहीं दिला पाते । किन्तु हे प्रभो ! आपके साथ सम्बन्ध जुड़ने पर मेरी रक्षा हो सकती है । अत: आप मुझे अपना सम्बन्ध प्रदान कीजिये । कोई सेवा मुझे दे दो जिसको करते हुए आपके साथ मेरा सम्बन्ध जुड़ जाय। तब माया भी मुझको छोड़ जायगी मेरा उद्धार हो जायगा ।

अतएव साधु-गुरु के आनुगत्य में एक मात्र रक्षा हो सकती है जहां हमारी कोई इच्छा नहीं चलेगी । पूरी तरह जिसमें विश्वास हो, उस वैष्णव को गुरुरूप में भगवान् से भिन्न मानकर उसे वरण करना होगा । उसको एक मात्र पथ प्रदर्शक मानकर उनकी आज्ञानुसार चलना होगा । चातक की भांति उनकी अपेक्षा करते हुए रहना होगा । जो भी निर्देश मिलेगा, उसके पालन करने में सर्वमंगल है-यही जानकर अपनी इच्छा स्वतन्त्रता को विसर्जन कर देना होगा । गुरु के आनुगत्य के माध्यम से भगवद्धाम की वस्तु या कृपा का संचार हममें हो जायेगा । किस प्रयोजन से हमारा सब व्यापार होगा उसे अच्छी प्रकार समझ लेना होगा । गरुड़ पुराण में कहा गया है-

ब्राह्मणानां सहस्रेभ्य: सत्रयाजी विशिष्यते ।
सत्रयाजि सहस्रेभ्य: सर्ववेदान्त पारग: ।
सर्ववेदान्त वित्कोट्या विष्णुभक्तो विशिष्यते ।
वैष्णवानां सहस्रेभ्य ऐकान्त्येको विशिष्यते ।।

अर्थात् हजार हजार कर्मकाण्डीय याज्ञिक ब्राह्मण से सर्ववेदान्त को जानने वाला एक ज्ञानी श्रेष्ठ है । ज्ञान विचार से जगत् मिथ्या है, सब नश्वर है इस प्रकार से जो यज्ञ है वह ज्ञानविचार से आत्मभूमि में यज्ञ है, वह कर्म भूमिका में स्थूल वस्तुओं से जो यज्ञ है उससे अनेक श्रेष्ठ है क्योंकि आत्म भूमिका में अवस्थित होकर अपनी आहूति देना है । इस प्रकार वेदान्तवित् ब्राह्मणों से एक विष्णु भक्त श्रेष्ठ है । क्योंकि विष्णु भक्त का तो भगवान् साक्षात् स्वयं भगवान् होता है । किन्तु वेदान्तवित् ज्ञानी का भाव तो अव्यक्त भगवान् में रहता है । ज्ञानी कहता है 'सोऽहं' अर्थात् वह मैं हूं वही चेतन है और मैं भी चेतन हूं । किन्तु जब यह समझ आ जाये कि मैं अणु चेतन हूं और वह विभुचेतन है—ऐसा अनुभव होने पर श्री पुरुषोत्तम के आगे मस्तक झुक जायगा।

श्रीभगवान् ने गीता में कहा है-

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।

ब्रह्मभूत हो जाने के बाद जीव परा भक्ति प्राप्त करता है । मुक्ति के बाद वेदान्त

की आलोचना द्वारा इस जगत् की नश्वरता हृदयंगम होने पर फिर जो सर्वोपरि विराजमान श्री पुरुषोत्तम हैं, उनकी सेवा में जो एक परम मंगल है समझा जा सकता है । जैसा कि श्रीगीता में कहा गया है-

बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।

जब ब्रह्म में परब्रह्म का दर्शन होता है, तभी मस्तक झुक जाता है । तब तक यहां वेदान्त में सब ब्रह्म ब्रह्म केवल चेतन कहा जाता है । उसके बाद जब परब्रह्म का सेव्य रूप में दर्शन होता है, तब वेदान्ती विष्णुभक्त हो जाता है और वह एक विष्णु भक्त कोटि वेदान्त वित् ज्ञानियों से श्रेष्ठ होता है । ऐकान्तिक भक्त वे हैं जिन्होंने विधि मार्ग के कानून न मानकर वृन्दावन में श्रीकृष्ण की सेवा मे पूर्णतः आत्मनियोग कर दिया है । वह बुरा-भला कुछ नहीं जानते और जानना चाहते भी नहीं । वे श्रीकृष्ण को ही अपना प्राण-देवता मानते हैं एवं उनकी सेवा में ही अपना परम मंगल मान कर सेवानन्द में विभोर रहते हैं ।

अतएव इस नवीन मार्ग का, कर्म भूमिका, ज्ञानभूमिका तथा भक्तिभूमिका-सब मार्गों की आलोचनापूर्वक विचार करना होगा, मनन करते हुए आत्मोन्नति करने के लिये श्री वैष्णव गुरुदेव के अनुगत होना होगा । तभी इस दिव्यज्ञान की प्राप्ति सम्भव है ।

धर्म-शिक्षा और विश्वास

आज के युग में जगत की जितनी समस्याएं हैं, उनमें शिक्षा की समस्या का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । कोमलमति बालक-बालिका-बचपन से उम्र के हर स्तर पर आस्तिकता की शिक्षा के गुणों से मनुष्यत्व का क्रमविकाश हुआ करता है ।

जैसाकि कहा गया है-

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।।

आहार-निद्रा, इन्द्रिय-तर्पणादि में मनुष्यत्व नहीं है । वस्तुतः शास्त्रानुशासित धर्मजीवन ही वास्तव मनुष्य-जीवन है । नहीं तो जीवन के पशु स्तर में भी जो ज्ञान है, दया-माया है, शूर-वीरता, बल तथा शालीनता है, मनुष्य में प्रायः उतनी भी ये सब नहीं दीखती । विद्या बुद्धि से समृद्ध होने पर भी धर्माधर्म का ज्ञान या ईश्वर में विश्वास न होने के कारण मनुष्य उच्छ्रंखलता तथा पाषण्डता को प्राप्त होकर परम निष्ठुर हो उठता है । मनुष्य जाति का देश काल पात्र-भेद से धर्म की मान्यता विभिन्न

होने पर भी-ईश्वर में विश्वास होना-यह सर्वत्र सर्वकाल में परिव्याप्त देखने को मिलता है ।

धर्मबुद्धि के कारण अपने से श्रेष्ठ वस्तु में या मनुष्य में सम्मान भावना का उदय होता है उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ महत् पुरुष के आनुगत्य में पूर्ण विश्वास होने पर जीवों को अनेक प्रकार के दुराचार या अवांछित कर्मो से रक्षा प्राप्त होती है । इसके अनेक प्रमाण हैं । अतएव शिक्षा के सब स्तरों में जब तक धर्म की परिव्याप्ति तथा मर्यादामय स्थान संरक्षित नहीं होता, तब तक प्रकृत मानवता तो दूर, साधारण सज्जनता भी हमारी-आशा के बहुत दूर रही आवेगी । महर्षि वेदव्यास से लेकर समस्त श्रेणियों के सूक्ष्मदर्शी मनीषिजन यही कहते हैं-

कौमारमाचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ।।

अत: जन्मसे मृत्यु पर्यन्त हरपद पर आस्तिक धर्म की शिक्षा तथा धर्मानुशीलन की पूरी चेष्टा करने में राष्ट्र को कानून बनाने की एकान्त आवश्यकता है । आस्तिकता के द्वारा आत्मोन्नति एवं परमार्थ लाभ तो होता ही है, उसके अभाव में या नास्तिकता आने पर जो दुर्नैतिकता, उच्छृंखलता अमैत्री तथा अपराधों में रुचि की वृद्धि होती है वह अपने आप नष्ट हो जाती है ।

सारे विश्व के हर स्तर के मनुष्यों के इतिहास तथा चरित्रों की आलोचना करने से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि ईश्वर में विश्वास होना मानव जाति का एक स्वाभाविक धर्म है । नित्य एवं भूमा सत्य स्वरूप ईश्वर के अहैतुक आकर्षण के प्रभाव से जीव की चेतनवृत्ति का विकाश क्रमानुसार होता है और विश्वास का तारतम्य या क्रमोन्नति दीखने में आती है । उस विश्वास में मनुष्यों में एक दूसरे के देह तथा मन की विभिन्नता के कारण तारतम्य के अवकाश में भाव और भाषाभेद से ईश्वर की विभिन्न संज्ञा या नाम हैं । फिर भी चिन्तन एवं अनुभूति के पूर्ण विकाश में भगवत् स्वरूप में ही परमेश्वरता का दर्शन करके विशुद्ध सत्त्व आप्तकाम महर्षि प्रवर ने बताया है-

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह: ।
अन्नादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम् ।।

यह वचन केवल किसी एक श्रेणी के मनुष्य के मुख से निकले हैं । यह साक्षात् सहज समाधि का धनरूप है । वृहत के सामने अणु का अभिमान-यह नित्य सत्य तत्व के अनुशीलन की बात वर्तमान विज्ञान भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार करता है । प्रकृत विश्वास या श्रद्धा का विशुद्ध रूप श्रीकविराज कृष्णदास गोस्वामी की लेखनी में हम पाते हैं –

श्रद्धा शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय ।
कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय ।।

इसी विश्वास की अनुभूति ही जीव के वास्तव शोक, मोह एवं भयादि का अपहरण करती है । केन्द्रीय सत्य श्री भगवान् के अहैतुक आकर्षण में सत्य, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग के बार-बार आवर्त्तन में नित्य सत्य का जो क्रमविकाश होता है, वह सर्वकालज्ञ देवर्षिगण अनुभूति-लब्ध लेखनी द्वारा प्रकाशित हुआ है । नास्तिकता तो किसी एक श्रेणी के मनुष्य द्वारा प्रचारित है । वह आस्तिकता की विकृत प्रतिक्रियाशील सामयिक प्रचेष्टा विशेष है । इसे वर्तमान काल में समझने में कुछ भी असुविधा नहीं है ।

जिसको समस्त वर्ग के प्राणी या मनुष्य एवं युग-युगावतारों का स्वभावसिद्ध धन कहा जाता है, उस विश्वास के विन्दु मात्र प्राप्ति की प्रचेष्टा में ही जो कि जीव को किननी बड़ी सम्पद प्रदान कर सकती है, वह हमारी कल्पना से परे है श्रीगीता की भाषा में उसे कहते हैं-

स्वल्पमयस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।

कितनी बड़ी निश्चिन्तता की बात है ? विश्वास के वचन रहते हुए भी चिरकाल से दुर्भाग्य की धूलि चाट रहे हैं और हताश होकर जन्म जन्मान्तर काटे जा रहे हैं-इससे बढ़कर दुःख का विषय और क्या हो सकता है ?

शरणागति

भगवद्भक्तितः सर्वमित्युत्सृज्य विधेरपि ।
कैंकर्यं कृष्णपादैकाश्रयत्वं शरणागतिः ।।

यह श्लोक श्री प्रपन्नजीवन—- शरणागत जीवन का अमृत स्वरूप है । शरणागति के विषय में सब शास्त्रों के आलोचन करने पर कि शरणागति किसे कहते हैं-उसका उत्तर इस श्लोक में कहा गया है । श्री भगवान् की भक्ति से सर्वसिद्धि होती है- इस दृढ़ विश्वास में विधाता की भी दासता को त्याग कर एकान्त भाव से श्रीकृष्ण पादपद्म का आश्रय लेना ही शरणागति है । श्रीभागवत में कहा गया है -

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः ।।

इसलिये *'स्वजनं आर्य पथञ्च हित्वा'* कहा गया है । आर्यपथ का त्याग करना कोई सहज बात नहीं है । *उत्सृज्यं विधेरपि कैंकर्य्य*-विधाता का कैकंर्य्य कहने से वेदस्वरूप जो ब्रह्मा है, उसके विधान की सीमा से भी बाहर जाना है । प्रकृत कृष्णपादैकाश्रय इसी को कहते हैं । अतः शरणागति एक कल्पना नहीं है । बहुत बड़ी

उपलब्धि है । जो कुछ भी प्राप्त है वह सब इसके सामने तुच्छ हो जाता है । जिन्होंने इस शरणागति रूप सम्पद् को प्राप्त किया है, वे मानो परमार्थ-भण्डार की कुंजी लेकर वास करते हैं । श्री शुकदेव जी ने कहा है- *एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्म परिनिष्ठया । जन्मलाभ: पर: पुंसां अन्ते नारायण: स्मृति: ।।* क्या वस्तु हाथ में लेकर तुम इधर-उधर घूम रहे हो ? चाबी तो मेरे हाथ में है । सांख्य, योग, स्वधर्मपालन, निष्काम भाव, वैदिक कर्मो का अनुष्ठान—इन सबकी दौड़ तो चित्त शुद्धि पर्यन्त है, किन्तु 'जन्मलाभ: पर: पुंसाम्' अर्थात् सबसे ऊंची पूर्णता तो मानव जीवन की है अन्त में श्रीभगवान् की स्फूर्ति । हम उसकी यदि प्राप्ति करना चाहते हैं तो उसके मालिक वही श्री भगवान् ही हैं । श्रीभगवान् कहते हैं-

तस्मात् तमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ।।

अर्थात् वेद और पुराण, स्मृति शास्त्र आदिमें जो कुछ वहिरंग उपदेश है, जो विधि-निषेध वर्णन है, उस सबका सम्पूर्ण रूप से परित्याग करना होगा, क्योंकि वेद का मूल अभीष्ट तत्त्व हैं भगवान श्रीकृष्ण । उनके चरण कमलों की शरण ग्रहण करना ही वेद का चरम तात्पर्य है ।

वेद का अर्थ है उपदेश । वेद किसी युक्ति की अपेक्षा नहीं रखता ऐसा उपदेश है वेद । छोटे शिशु को प्रयोजनानुसार उसके कल्याण के लिये उसके माता-पिता परिचालना करते हैं-हम जो कहते हैं वही कर । सीधा-सूदा आदेश । यही है वेद का लक्षण । वेद आदेश देता है, कोई युक्ति नहीं देता । पुराण बन्धु भाव से उपदेश करते हैं । अन्यान्य शास्त्र युक्ति देकर उपदेश करते हैं । किन्तु वेद जो कहता है, वैसा करना होगा । तुम्हें समझने की जरूरत नहीं है । कितना समझोगे तुम ? छोटा सा मस्तक है तुम्हारा । प्रभुपाद कहते हैं । पीपी ब्रेन (Brain) कुकुरेर छानार माथा । इस अनन्त वेद का तुम एक कण भी तो बुद्धि से ग्रहण नहीं कर सकते। "चोदनां" अर्थात् उस वेद पर्यन्त तुम रहने दो । 'प्रतिचोदनाम्'-अर्थात् वेद से लेकर मनु आदि का विचार जो लोकरंजन की दुकान है, उससे तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं । 'प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च' अर्थात् प्रवृत्ति मार्ग की जो बातें हैं और निवृत्ति मार्ग के जो नियम हैं अर्थात् भोग और त्याग राज्य की जो शाखाएं हैं, उनको भी रहने दो । 'श्रोतव्यं— तुम्हारे लिये सुनने को आगे बहुत कुछ बाकी है-अभी सब कुछ अच्छी प्रकार आविष्कृत नहीं हुआ है । प्रगति का युग आ गया है, किन्तु सुनने के लिये अभी बहुत बाकी है। 'श्रुतमेव च'-अर्थात् अतीत में जो सुना गया है, वह सब अब लुप्त हो गया है । अर्थात् अतीत में बहुत कुछ महान था, किन्तु उसे भी अब सम्यक् रूप से परित्याग कर ।

मामेकमेवशरमात्मानं सर्वदेहिनाम्

एक मात्र मेरी शरण ग्रहण कर । एक ही फैसला केवल मैं तुम्हें देता हूं-क्या? *ना आत्मानं सर्वदेहिनाम,* "मैं समस्त देहधारियों का आत्मा हूं- *आत्मार आत्मा हय कृष्ण सर्व अवतंस । "मयि सर्वगुहाशये"*- मैं ही एक मात्र आश्रय हूं । मैं ही एकमात्र भोक्ता हूँ । और सबका तू त्याग कर । जब मन का बोझ मिट जायेगा, तब भोक्ता केवल वही भगवान् रह जायेंगे । सब कुछ भगवान् का है । हम तो केवल उसकी शक्ति के परिवार हैं । नश्वर व्यक्ति अभिमानवश मालिक बनकर नाचता है, केवल थोथे आत्म अभिमान वश । जगत् की किसी वस्तु का मालिक और कोई नहीं है । जैसे हमारे देह, नेत्र, कान, नाक-इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का मालिक है आत्मा, उसी प्रकार आत्मा के भीतर भी उसका मालिक रह रहा है परमात्मा । हम सब उसके पराधीन सेवक हैं । इस विचार के दृढ़ हो जाने पर शरणागति के परिसर में आया जा सकता है । शास्त्र के सब विधि-निषेधों की चाबी तब अपने हाथ लग जाती है।

वह शरणागति *'मामेकमेव शरण'* प्राप्त होती है सर्वतोभाव से । सब प्रकार से-काय, मन, बुद्धि, वाणी जो कुछ है सब कुछ देकर शरणागत होकर सब ले लो। हे उद्धव ! तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो । मेरे लिये तुम्हें देने के लिये कुछ भी अदेय नहीं है । मेरी आत्मा पर्यन्त सब कुछ तुम्हारा है । तभी तुम्हारे लिये ये चारों पुरुषार्थ मैंने देखे हैं । श्रीगीता में अर्जुन को इस प्रकार कहा है- *"प्रतिजाने प्रियोऽसि मे"*- लोग इस बात को नहीं समझते हैं, बताने पर भी नहीं समझते । असल बात यह है कि सब कुछ मैं हूँ । बाकी सब कथाएं मनोहारी वाक्य-प्रदर्शनी है । धर्म, कर्म जो कुछ भी जहां है वह सब शोई बण्डल हैं -दिखावा मात्र हैं । तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। इसलिये प्रतिज्ञा पूर्वक तुमको अनावृत सत्य बता रहा हूं कि सब मैं ही हूं । मेरी तृप्ति का विधान ही है एक मात्र कर्तव्य, इसी को कहते हैं अद्वय ज्ञान ।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य-इसमें ही समाविष्ट होकर धर्मकर, कर्मकर, जपकर, योगकर, त्यागकर । जैसे *मुनयोः वातरसना श्रमणाऊर्ध्वमन्थिनः"*-इत्यादि जो भी कर, उसमें कोई सुविधा प्राप्त नहीं होगी । दूध दानकारी ब्रह्मचारी को महाप्रभु ने अंगूठा दिखा दिया था । श्री प्रह्लाद ने भी कहा है-*निगमस्य सारम्"* । जहां भी जिस किसी धर्म की बात है, *'स्वात्मार्पणम्'* सब आत्मनिवेदन में ही आ जाता है । यही सार्थक है । अपने को भगवान् को निवेदित कर देना ही समस्त धर्मों की सार कथा है । मैं तुम्हारा हूं और तुम मेरे हो । इसके ऊपर जो कुछ भी साजसज्जा है वह सब सुन्दर है । अतः जो इसको समझ पाया है, उसको और क्या भय है ? उसकी दुनियादारी और अभिमान सब विनष्ट हो जाता है । *"तत्परत्वेन निर्मलम्"*-यही एक

अस्त्र है । *'श्रीकृष्ण प्रीति कामः'* । *'प्रॉपर्टी बैलेंस टु कृष्ण'* । दुर्गा पूजा ही कर । काली पूजा ही कर संकल्प करके जो कुछ कर या न कर, सबका निचोड़ यही है- *"कृतैतत् कर्मफलं श्री कृष्णाय समर्पितमस्तु ।।* मूल लक्ष्य यहां जाकर शेष होता है । जितने दिनों तक साधन में लग रहे हो तब तक तो आचार में रहो, सिद्ध हो जाने पर अन्तर्मुखी अवस्था हो जाती है वहां फिर कोई विचार नहीं घुस सकता। कर्म ज्ञान, योग, तप-पूजा, अर्चा सब की शुद्धि के विधान का सम्बन्ध यहां ही है । ज्वालामुखी पर्वत का धुंआ कितनी ही दूर तक क्यों न देखा जाय, किन्तु अग्नि उसके भीतर ही रहती है ।

स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।।
श्रद्धा-शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय ।
कृष्णे भक्ति कैले सर्व कर्म कृत हय ।।

अतएव *"मर्त्यो यदा त्यक्तः समस्त कर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे, तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो ममात्मभूयाय च कल्पते वै ।* इस 'आत्मभूयाय' का अर्थ है-

दीक्षा काले भक्त करे आत्मसमर्पण ।
सेइ काल कृष्ण तारे करे आत्म सम ।।
सेइ देह करे तार चिदानन्दमय ।
अप्राकृत देहे कृष्णेर चरण भजय ।।

श्रीकृष्ण के भजन को छोड़कर और कोई कर्त्तव्य नहीं है । चौबीस घण्टों में चौबीस घण्टे ही उनकी प्राप्ति । एक क्षण भी विस्मृति आने पर भक्त के लिये तो मानो प्रलय हो जाती है । जरा सी स्मृति आदि इधर-उधर जाती है तो भक्त चौंक उठता है, कया कर रहा हूँ ? उनकी सेवा भूले जा रहा हूँ ? समय को एक कंजूस के धन की तरह रक्षा करता है कि किसी प्रकार व्यर्थ न जाय। सारी कमायी हुई पूंजी का मानो सर्वनाश हो जाता है । शरणागति के पद के अनुसार निवेदितात्मा का भी पद ऊँचा उठ जाता है । *क्षान्तिरव्यर्थ- कालत्वं-* इसी भाव में ही प्रतिष्ठित है ।

परात्परतत्व का लीला-तरंगायित सागर श्री भगवान के औदार्य एंव माधुर्य-पर सेवा वैचित्री का विकास इस शरणागति भित्ति के ऊपर ही यथा योग्यभाव से आत्म प्रकाश करता है ।

इस शरणागति के चरमप्रकाश में देखा जाता है- *"कृष्ण भक्ति रस भाविता मतिः"* अति ही दुष्प्राप्य वस्तु है । यह कहीं भी नहीं मिलती । अमूल्य धन है । कोटि कोटि जन्म की पुण्य राशि देने पर भी खरीदी नहीं जा सकती । एक मात्र इस रसका परिचय पाकर एकमात्र अत्यन्त उत्कण्ठा ही इसकी प्राप्ति का कारण है । जिसने इसे प्राप्त किया है उसने सब कुछ ही प्राप्त कर लिया है । *'रसभाविता मतिः"*-रसिक शेखर

उसका सब कुछ हरण कर लेते हैं ।

चित्त काड़ि तोमा हइते, विषये चाहि लगाइते
यत्न करि नारि काड़िवारे ।"

यह अति अतुलनीय निधि है । सहज वस्तु है क्या ?- *'न वै विदुः ऋषयो नापि देवाः"*-बड़े बड़े ऋषि एवं अनुसंधाता मनीषी कोई भी इसे प्राप्त नहीं कर सकता । इस प्रकार भक्त की चेष्टा अलौकिक होती है । समाज उसे प्राप्त कर धन्य हो जाता है—

एवं व्रतं स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चै : ।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ।।
एइ नव प्रीत्यंकुर यार चित्ते हय ।
प्राकृतक्षोभेओ तार क्षोभ नाहि हय ।।

श्री महाप्रभु ने इस रस राशि का सन्धान लेकर जीव-जगत् के भाग्यों को पलट दिया है-

यदि गौर ना ह'त तबे कि हइत
केमने धरिताम दे ।
राधार महिमा प्रेमरस सीमा
जगते जानात के ? ।।
मधुर वृन्दा विपिन माधुरी
प्रवेश चातुरी सार ।
वरज-युवती भावेर भकति
शकति हइत कार ।।

सेइ शिव विरिञ्चिर वाञ्छित जे धन
जगते फेलिल टालि ।
कांगाले पाइया खाईल लुटिया
बाजाईया करतालि ।
निताई गौर हरि बोल

जीव की स्वाधीन इच्छा की निश्चयात्मक सार्थकता

श्री भगवान् का निष्क्रिय रूप सर्वत्र ही दीखता है । किन्तु वह समस्त जीवों के कर्मों का द्रष्टा है । ईश्वर का निरपेक्ष साक्षी रूप है । वह जीव को सम्पूर्ण रूप से त्याग नहीं करता है, किन्तु उसकी स्वाधीन इच्छा के रास्ते में भी प्रतिबन्धक नहीं बनता । वह और एक व्यवस्था करता है । उनके द्वारा आदिष्ट साधु सन्तों के एवं धर्म शास्त्रादि में निरूपित तत्व की सहायता से वह किसी भी प्रकार अपने भक्त को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये, उसे अपने घर में लौटा लाने के लिये स्वयं जगत् में आविर्भूत होता है । "अपने घर लौट चलो, बालको ! अपने घर चलो । धर्म ग्रन्थों की भांति अनेक प्रार्थना करता है, अनेक प्रतिनिधियों को भी उस कार्य में लगा देता है, घर में लौट चलो" । किन्तु स्वतन्त्र इच्छा शक्ति तो जीव में विद्यमान है । जितना भी यत्न होता है । कोई कोई जीव निराश होकर ऐसा कहने लगता है-भगवान् ने मुझ को ऐसी दुखदायिनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति क्यों दे रखी है ? इसके कारण हम निरन्तर यातना भोग कर रहे हैं । किसलिये दी है यह स्वतन्त्र इच्छा शक्ति ? श्री भगवान तो सर्वदर्शी हैं, वे सर्वज्ञ हैं । हम इस स्वाधीन इच्छा शक्ति का अपव्यय कर सकते हैं, यह जानकर भी उन्होंने हमें ऐसी वस्तु क्यों प्रदान कर दी है ? इस इच्छा शक्ति को देकर मानों भगवान ने अबोध बालक के हाथ तेजधार का अस्त्र दे दिया है, जिससे अबोध बालक जीव अपने ऊपर सांघातिक आघात कर सकता है ।

किन्तु इच्छा शक्ति हीन अस्तित्व तो जड़ का अस्तित्व है । स्वतन्त्र इच्छा शक्ति तो है एक अमूल्य धन । इसके द्वारा ही हम रसास्वादन में समर्थ होते हैं । जिह्वा मिली है केवल कड़वा स्वाद लेने के लिये नहीं, मिश्री को ग्रहण करने के लिये भी । जिस जिह्वा में रसास्वादन की शक्ति नहीं है, वह कभी भी मधुरता का उपभोग नहीं कर सकती । हम हर समय जिह्वा को केवल मात्र कड़वी नीम का आस्वादन कराते हैं इसलिये ईश्वर के प्रति भी कठोर वचनों का प्रयोग करते हैं ।

उन्होंने हमें किसलिये जिह्वा प्रदान की है ? हम जो हर समय कड़वी वस्तु का आस्वादन कर रहे हैं, किन्तु जिह्वा से मधुर मीठी वस्तु के स्वाद भी ग्रहण करने का प्रयोजन सिद्ध होता है । उसी प्रकार कर्मक्षेत्र में भगवान् के सन्तुष्ट जनक कार्यों को साधित करने के लिये स्वाधीन इच्छा का प्रयोजन है । हम कभी कभी कड़वी वस्तु के सम्पर्क में आते हैं । उसके लिये क्या हम कभी सृष्टिकर्त्ता को दोष देते हैं कि उन्होंने कड़वी वस्तु क्यों बनादी ? कोई भी वाणी जो कानों को अप्रिय लगती है या पीड़ा देती

है, उसके मिटाने का हम कोई भी साधन नहीं विचार करते । कानों को काट डालने का यत्न नहीं करते । ऐसे ही नेत्रों द्वारा कोई अवांछित दृश्य देखते हैं, उसको विनष्ट नहीं करते हैं । हमें नेत्र दिये गये हैं इसलिये कि हम उनके द्वारा सुन्दर रूप देखने का सुयोग प्राप्त करें । इसलिये ही हमें नेत्र दिये गये हैं । दृष्टि शक्ति के न रहने पर हम पत्थर के समान हो जायेंगे । अतएव स्वाधीन इच्छा ही सब वस्तुओं का सार है । चरम निर्यास है । नेत्र, कान एवं अन्यान्य अनेक वस्तुएं भी इच्छा शक्ति पर निर्भरशील है । उससे वंचित होने पर हम पत्थर के समान हो जायेंगे, ऐसा होना कोई भी नहीं चाहता ।

हर वस्तु का एक उज्ज्वल पहलू होता है और उसी के लिये ही वह वस्तु उत्पन्न होती है एवं भगवान् उसे हमें प्रदाम करते हैं । उसके बड़े ढंग से व्यवहार करने पर हम क्षतिग्रस्त होते हैं । यदि उसे अच्छे उद्देश्य में प्रयोग किया जाये तो हम सुख-समृद्धिलाभ करते हैं । यह वास्तविकता है एवं हमें भी उस पर निर्भर रह कर समस्या का समाधान करना होगा । वस्तु का उज्ज्वल पहलू संधान करने पर हम देख सकेंगे कि समस्त वस्तुएं ही कल्याणप्रद हैं । सब वस्तुएं ही मंगलमय हैं पूर्णमात्रा में । एकमात्र अपने को ही उस ऊर्ध्वतर स्तर पर उन्नति करने की आवश्यकता है। तभी हम प्रकृत समत्व का एवं पूर्ण सुसंगति का सन्धान पा सकेंगे । वहां श्री भगवान् की सृष्टि में सब ही आनन्दमय है ।

समाप्त

साधु संग

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि कि साधु साहचर्य के बिना केवल कृष्ण नाम संकीर्तन से ही हमारा अभीष्ट हित होना बड़ा कठिन होगा। हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे। अतः एक शब्द में समाधान साधु-संग ही है। हमें एक सच्चे स्वरूप सिद्ध महात्मा का सानिध्य प्राप्त करना ही होगा और तब शेष बातें स्वतः ही सुधर जायेंगी। साधुओं का सुमेरु गुरु है। गुरुदेव उन सत्पुरुषों के शिरोमणि हैं जो मार्गदर्शन प्रदान कर सकते हैं। गुरु वही हो सकता है जो हमें सन्तोषप्रद ढंग से मार्गदर्शन प्रदान कर सके ।

''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा – मैं कहाँ से आया हूँ?
मैं कैसे जी रहा हूँ तथा मेरा भविष्य क्या
है?'' यही मुख्य प्रश्न हैं जिन पर हमें
ध्यान केन्द्रित करना है और इनके
समाधान हेतु हम को अपनी पूरी
शक्ति लगानी होगी। यह
केवल एक व्यक्ति पर नहीं
लागू होता–यह केवल
मेरी चिन्ता का
विषय नहीं है–
अपितु सभी
लोगों की
समस्या
है।

– श्रील भक्तिरक्षक श्रीधर
देवगोस्वामी महाराज